श्री गौरहरिर्जयति

प्रकाशक के द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ संख्या--१२६

रासपञ्चाध्यायी

श्रीश्रीरसिकाल्हादिनिटीका

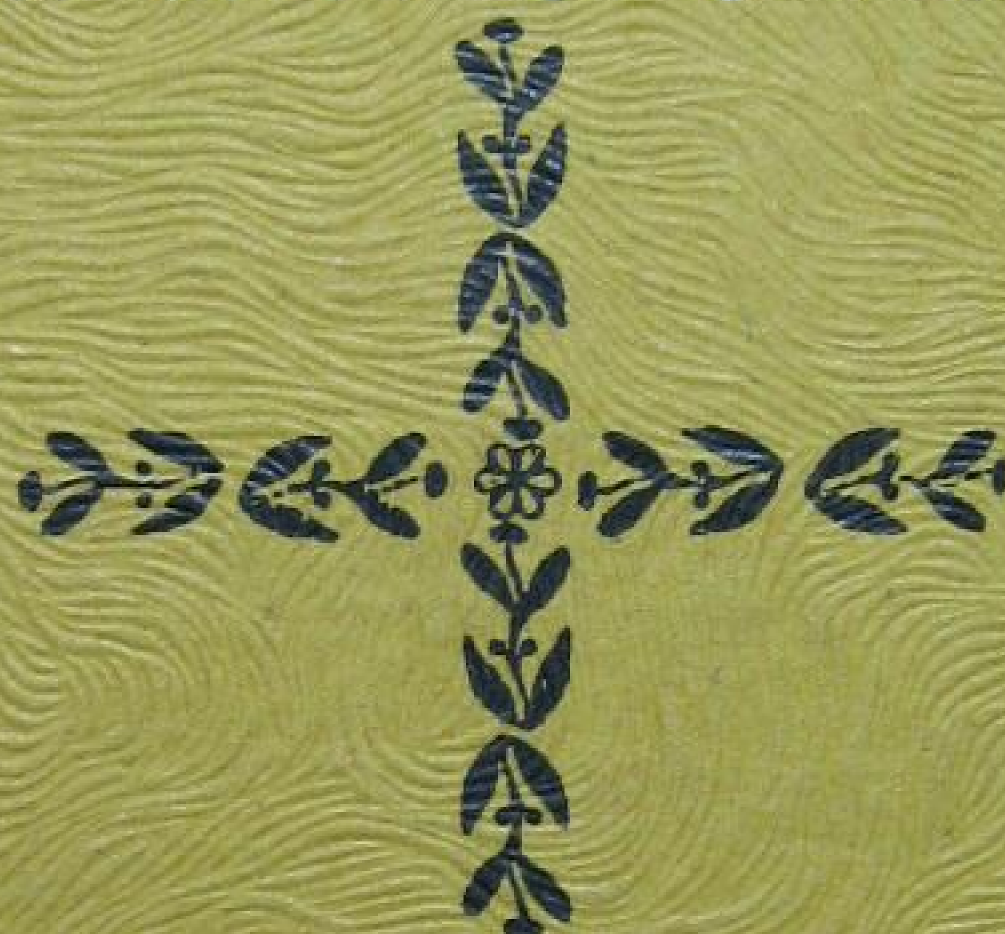

— महामहिम —

* व्रजाचार्य्य-गोस्वामी *

श्रीश्रीनारायणभट्टपादविरचिता

प्रकाशक व मुद्रक

कृष्णदास बाबा

कुसुमसरोवर

राधाष्टमी
सम्वत् २०२१

श्रीगौरहरिप्रेस, कुसुमसरोवर, राधाकुण्ड (मथुरा)

भज–निताई गौर राधेश्याम ।
जप–हरे कृष्ण हरे राम ॥
परमाराध्य, संकीर्त्तन प्रचारक. प्रेममयविग्रह, श्रीराधा-
रमणचरणदासदेव (बड़े बाबाजी) के अनुगत,
नित्यधामगत, श्रीगुरुदेव बाबाजिमहाराज
१०८ श्री बाबा (रामदासजी) के
पुनीत स्मरण में यह ग्रन्थ
समर्पित है ।

❀ दो शब्द ❀

ब्रज की गौरव वृद्धि करने वाले महात्माओं में नारायण-भट्ट का सर्वोपरि महत्व है, किन्तु हिन्दी साहित्य के इतिहास में उनका अत्यन्त अपूर्ण और त्रुटिपूर्ण वर्णन मिलता है । यहां तक कि उनका जन्म-संवत् भी अशुद्ध लिखा गया है ।

नारायण–भट्ट की सातवीं पीढ़ी में एक जानकीप्रसाद-भट्ट (जन्म सम्वत् १७२२) हुए हैं । उन्होंने संस्कृत में "श्री नारायणभट्टचरितामृतम्" की रचना सं० १७७० के लगभग की थी । उक्त ग्रन्थ में नारायणभट्ट का आद्योपान्त जीवन-वृत्तान्त अत्यन्त विस्तार पूर्वक लिखा गया है । ग्रन्थ के अन्त में लेखक ने बतलाया है कि इसकी रचना उन्होंने अनेक ग्रन्थों के अव–लोकन के उपरान्त की है और इसके वर्णन के सम्बन्ध में उन्हें कोई भ्रम अथवा सन्देह नहीं है । इस ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि इसकी रचना में उस समय की प्रचलित किंवदन्तियों और अनु-श्रुतियों का भी आधार लिया गया है, फिर भी नारायणभट्ट के जीवन-वृत्तान्त के लिये यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण है ।

"श्री नारायणभट्टचरितामृतम्" से ज्ञात होता है कि उनका जन्म सं० १५८८ की वैशाख शुक्ला १४ (नृसिंहचौदस) को दक्षिण के मदुरा नगर में हुआ था । वे भृगुवंशी दीक्षित ब्राह्मण थे । उनके पिता का नाम भास्करभट्ट और माता का नाम यशोमती था । उनके बड़े भाई का नाम गोपालभट्ट था । उन का घराना माध्व-मतावलम्बी कृष्णोपासक वैष्णव था ।

उनकी प्रारम्भिक शिक्षा दक्षिण में हुई थी। वे इतने प्रतिभाशाली थे कि उन्होंने अल्पायु में ही यथेष्ट ज्ञानोपार्जन कर लिया थ[illegible] बाल्यावस्था से ही कृष्ण-भक्त और ब्रज-वृन्दाबन के अ[illegible] थे। कहते हैं, उन्होंने १२ वर्ष की अवस्था में ही अपने प्रथम ग्रन्थ "ब्रजप्रदीपिका" की रचना दक्षिण में की थी। इसके उपरान्त वे ब्रज में निवास करने के लिये घर से चल दिये।

वे ढाई वर्ष तक अनेक तीर्थों की यात्रा करते हुए सं० १६०२ में ब्रज में पहुँचे। उन दिनों वृन्दाबन, राधाकुण्ड आदि ब्रज के पुण्यस्थलों में अनेक गौड़ीय - भक्तों का निवास था। वे चैतन्य महाप्रभु की प्रेरणा से भक्ति-ग्रन्थों की रचना, कृष्ण-भक्ति और हरि-कीर्तन का प्रचार तथा ब्रज के लुप्त-तीर्थों के उद्धार का काम कर रहे थे। ये सब कार्य कालान्तर में नारायण-भट्ट द्वारा पूर्णता को प्राप्त हुए। चैतन्यमहाप्रभु के प्रिय - पार्षद श्रीगदाधरपण्डितगोस्वामी के शिष्य कृष्णदास - ब्रह्मचारी थे। वे सनातन गोस्वामी के आदेशानुसार राधाकुण्ड में श्री मदन-मोहन जी की सेवा करते थे। नारायण-भट्ट ने उक्त ब्रह्मचारी जी से दीक्षा ली और राधाकुण्ड के गौड़ीय भक्तों के साथ निवास करते थे। उनका ब्रजागमन इस पूण्यभूमि के लिए बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ। उन्होंने जीवन पर्यंत विविध भाँति से ब्रज की गौरव-वृद्धि का यत्न किया और उसमें सफलता प्राप्त की।

उनके महत्व पूर्ण कार्यों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(१) श्रीमद्भागवत और वाराहपुराणादि में श्रीकृष्ण-लीला के जिन स्थलों का उल्लेख मिलता है, उन्हें काल के प्रवाह से लोग भूल गये थे। उन्होंने अनुसन्धान पूर्वक उन्हें पुनः प्रकट

किया। उनके इस महत्व पूर्ण कार्य का उल्लेख नाभाजी ने "भक्तमाल" में इस प्रकार किया है :—

गोप्य स्थल मथुरा-मण्डल, जिते बाराह बखाने।
ते किये नारायण प्रगट, प्रसिद्ध पृथ्वी में जाने॥

(२) ब्रज के बन, उपवन, तीर्थ और देवी-देवताओं की महिमा तथा भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति के प्रचारार्थ उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की।

(३) ब्रज के आध्यात्मिक और भौतिक रूप के प्रदर्शन के लिए तथा वहाँ के वन-वैभव का आनन्द प्रदान करने के लिए उन्होंने "ब्रज-यात्रा और "बन-यात्रा" का प्रचार किया। इससे प्रति वर्ष देश में सहस्रों नर-नारियों को ब्रज के समग्र रूप के दर्शन करने का सुयोग प्राप्त हुआ।

(४) भावुक भक्तों को राधा-कृष्ण की सरस लीलाओं से आनन्दित करने के लिए उन्होंने "लीलानुकरण" के रूप में "रास" का प्रचार किया और ब्रज के अनेक स्थानों में रास-मण्डलों का निर्माण कराया। इससे ब्रज के गायन, वादन, नृत्य और नाट्य विषयक प्राचीन कलाओं का पुनरुद्धार हुआ। भक्त-माल के टीकाकार प्रियादास जी ने इस सम्बन्ध में लिखा है:—

भट्ट श्री नारायण जू, भये ब्रज-परायन,
जाँय जहाँ गाये, नहाँ ब्रज करि ध्याये हैं।
ठौर-ठौर रास के विलास लै प्रकास किये,
जिये यों रसिक जन, कोटि सुख पाये हैं॥

राधाकुण्ड नामक स्थान में १२ वर्ष तक निवास करने के अनन्तर वे ब्रज के ऊँचेगाँव चले गये। वहाँ उन्होंने गृहस्थ जीवन आरम्भ किया। उनके ज्येष्ठ पुत्र का नाम दामोदर - भट्ट

था, जिनका जन्म सं० १६१५ में हुआ था। नारायणभट्ट ने ऊँचेगाँव में बलदेव जी और बरसाने में लाड़िलीलालजी प्रगट कर सेवा प्रचलित की थी, जो अभी तक उनके उत्तराधिकारियों और शिष्यों के अधिकार में है। उनके शिष्यों में नारायणदास श्रोत्रिय मुख्य थे। उनके वंशज बरसाने के गोस्वामी हैं, जिनको लाड़िली जी के मन्दिर की सेवा का अधिकार प्राप्त है।

उन्होंने पूर्णायु प्राप्त की थी। उनका देहावसान १७ वीं शताब्दी के अन्त में भाद्रपद शुक्ला १२ (बामन द्वादशी) को ऊँचेगाँव में हुआ था, जहाँ उनकी समाधि बनी हुई है। इस समाधि पर प्रति वर्ष चैत्र कृष्णा ५ को बरसाने के गोस्वामियों द्वारा "समाज" का आयोजन होता है। उस अवसर पर गायक गण भट्ट जी को अपनी श्रद्धाञ्जली अर्पित करते हैं।

श्री नारायणभट्ट जी के द्वारा रचित ग्रन्थ—१. भक्ति-रसतरङ्गिणी, २. व्रजभक्तिविलास, ३. व्रजोत्सवचन्द्रिका ४. व्रजोत्सवाह्लादिनी, ५. व्रजप्रदीपिका, ६. व्रजमहोदधि, ७. वृहत व्रज-गुणोत्सव, ८. व्रजप्रकाश, ९. भक्तिविवेक, १०. साधनदीपिका, ११. भक्तभूषणसंदर्भ, १२. रसिकाह्लादिनी (भागवत की टीका), १३. धर्मप्रवर्तिनी, १४. लाड़िलेयाष्टक, १५. प्रेमांकुरनाटक, १६. सिद्धान्तचूड़ामणि, १७. नीतिश्लोकानि, १८. व्रजरत्न-दीपिका, १९. भक्तिरहस्य, २० धर्मप्रबोधिनी, २१. राधाविनोद काव्यस्य टीका आदि।

"श्री नारायणभट्ट – चरितामृत" से ज्ञात होता है कि उन्होंने ६० ग्रन्थों की रचना की थी। १ ग्रन्थ दक्षिण में, ७ ग्रन्थ राधाकुण्ड में और ५२ ग्रन्थ ऊँचेगाँव में रचे गये थे। दक्षिण में रचा हुआ ग्रन्थ "व्रजप्रदीपिका" है। राधाकुण्ड में रचे हुए

ग्रन्थ व्रज-भक्ति-विलास, व्रज-दीपिका, व्रजोत्सब-चन्द्रिका, व्रज-महोदधि, व्रजोत्सवाह्लादिनी, वृहत् व्रज-गुणोत्सब तथा व्रज-प्रकाश हैं। ऊँचेगाँव में रचे हुए ग्रन्थों में से भक्तभूषण-सन्दर्भ, भक्तिविवेक, भक्तिरसतरङ्गिणी, साधनदीपिका, भागवत की रसिकाह्लादिनी टीका और प्रेमांकुर नाटक प्रमुख हैं।

ये समस्त ग्रन्थ संस्कृत भाषा में हैं। इनमें व्रज की महिमा और उनके पुण्य स्थानों का विस्तार पूर्वक वर्णन हुआ है, तथा वैष्णव भक्ति की शास्त्रीय विवेचना और सरस व्याख्या की गई है। इसमें कई ग्रन्थ वृहत् आकार के हैं। उनके बड़े ग्रन्थों में "व्रजभक्तिविलास" "वृहत व्रगुणोत्सव" और भागवत की रसिकाह्लादिनी टीका विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

उनके प्रमुख ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

१. व्रजभक्तिविलास--इस वृहत् ग्रन्थ में १३ अध्याय हैं, जिनमें व्रज के समस्त बन, उपबन, तीर्थ-स्थल, लीला-स्थल और देवी-देवताओं का विस्तार पूर्वक बर्णन है। इसकी रचना सं० १६०९ में राधाकुण्ड के तट पर हुई थी। इसे हिन्दी टीका सहित बाबा कृष्णदास ने प्रकाशित किया।

२. व्रजोत्सवचन्द्रिका--इसमें व्रज के उत्सवों का विस्तृत वर्णन है। इसकी रचना भी राधाकुण्ड के तट पर सं० १६१२ में हुई थी। इसकी प्राचीन हस्त लिखित प्रति बरसाना में है। बाबा कृष्णदास ने मूलमात्र इसका प्रकाशन किया है।

३. व्रजोत्सबाह्लादिनी--इस वृहत् ग्रन्थ का उल्लेख व्रज-भक्ति विलास में हुआ है। इसमें तिथियों बार व्रज के उत्सवों का साङ्गापाङ्ग वर्णन है। इसकी भी हस्त लिखित प्रति बरसाना में सुरक्षित है।

४. भक्तभूषण सन्दर्भ--इसमें जीव तत्व, जगत् तत्व और ईश्वर तत्व का निर्णय किया गया है। उक्त बाबा के द्वारा इस का भी प्रकाशन हुआ है।

५. बृहत्-व्रज-गुणोत्सव--व्रज-भक्ति-विलास में इस ग्रन्थ का संकेत मिलता है। उससे ज्ञात होता है कि यह २६ हजार श्लोकों के बृहत् आकार का ग्रन्थ है, जिसमें बृहत् व्रज-यात्रा के समस्त स्थानों का विस्तार पूर्वक वर्णन हुआ है। यह ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका।

६. भक्ति-विवेक--इसमें नाम श्रेष्ठ निर्णय, धाम श्रेष्ठ निर्णय और भक्त श्रेष्ठ निर्णय नामक तीन प्रकरण हैं, जिनमें क्रमशः श्रीकृष्ण की नाम-महिमा, व्रज का श्रेष्ठत्व और व्रज-बासियों की महिमा वर्णित है। उक्त बाबा ने प्रकाशित किया है।

७. भक्तिरसतरङ्गिणी—इसमें 'उल्लास' नामक ५ अध्याय हैं। द्वादश रसों में मुख्य मधुर रस का इसमें साङ्गोपाङ्ग वर्णन हुआ है। इसकी रचना में भी रूप गोस्वामी कृत 'भक्ति-रसामृतसिंधु' और 'उज्वलनीलमणि' का आधार लिया गया है। इसे हिन्दी टीका सहित उक्त बाबा कृष्णदास ने प्रकाशित किया है।

८. साधन-दीपिका--इसमें साधनरूपा भक्ति का विवेचन और वैष्णवों के विधि-प्रतिषेध तथा व्रतादि का निर्णय है।

९. प्रेमांकुरनाटक-- "श्रीनारायणभट्टचरितामृत" में इस नाटक का नामोल्लेख और संक्षिप्त परिचय मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि इसमें श्रीकृष्ण की बिविध लीलाओं का नाटक रूप में कथन किया गया है। इसकी कोई प्रति अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है।

१०. रसिकाह्लादिनी–यह श्रीमद्भागवत की टीका है। इसकी सम्पूर्ण प्रति अभी तक प्राप्त नहीं हुई है, किन्तु दशमस्कन्ध के आरम्भ से रास पंचाध्यायी तक की प्रति मिल चुकी है।

उक्त ग्रन्थों से भट्ट जी का प्रकांड पाण्डित्य और व्रज के प्रति उनका उत्कट अनुराग प्रकट होता है। ये ग्रन्थ उस समय लिखे गये थे, जब व्रज के सम्बन्ध में लोगों को बहुत कम जानकार थी। भट्ट जी ने इन्हें लिखने में कितना परिश्रम किया होगा, इसके विचार मात्र से ही उनके प्रति आदर से नत-मस्तक होना पड़ता है। इतना समय हो जाने पर भी व्रज के परिचयात्मक ग्रन्थों में अब भी इनका सर्वश्रेष्ठ स्थान है। उनकी समस्त रचनाएँ संस्कृत में हैं। कहते हैं, उन्होंने व्रजभाषा में भी कुछ रचनाएँ की थीं, किन्तु उनकी कोई भी प्रामाणिक कृति अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है।

उन ग्रन्थों का प्रकाशन उक्त बाबा कृष्णदास ने महती चेष्टा पूर्वक कर रहे हैं। जैसा कि ब्रज के लुप्ततीर्थों का उद्धारादि कार्य्य भट्ट जी के द्वारा हुआ है तैसा ही उक्त बाबा के द्वारा नारायणभट्टजी का चरित्र उद्‌क्रम किया गया है। बहुत से लोग भट्टजी को जानते ही नहीं थे परन्तु बाबा ने कई ग्रन्थों का उद्धार कर उनको जाग्रत कर दिया। प्रस्तुत रसिकाह्लादिनी टीका बड़ी सरस व भावपूर्ण रचना है। कहीं कहीं अन्य गोस्वामियों की टीका के साथ विलक्षणता देखने में आती है। इस समय इस टीका का प्रकाशन होना आवश्यक था, नहीं तो यह लुप्त हो जाती। इसका प्रकाशन होना आवश्यक था, नहीं तो यह लुप्त हो जाती। इसकी कापी (हस्तलिखित) उक्त बाबा को गोस्वामी प्रियालालजी

(बरसाने वाले) के द्वारा नीमराना (जहां भट्टजी के वंशज रहते हैं) से प्राप्त हुई थी। आशा है कि रासप्रेमी रसिक विद्वान्-जन इस का सरस आस्वादन करें व करावें।

अगर यह हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित होती तब रास प्रेमी जनता का बड़ा उपकार होता। अस्तु कालान्तर में यह कार्य्य हो भी सकता है। नारदावतार भट्टजी जब कि संकेत में अपने प्रकटित राधारमण बिग्रह के समक्ष वीणा लेकर रास-पंचाध्यायी गाते थे तब उन को भागबत की टीका करने को राधारमण जी ने आदेश किया। उन राधारमण की प्रेरणा से वे इस में प्रवृत्त हुए। अस्तु—

विनीत

प्रभुदयाल मीतल

साहित्यसंस्थान (मथुरा)

श्रीरासपञ्चाध्यायी

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

भगवानापि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ॥१॥

श्रीरसिकाल्हादिनी टीका

वन्दे गुरुं कृपासिन्धुं सच्चिदानन्दविग्रहम्।
प्रापुर्भागवतं ज्ञानं वहवो यदनुग्रहात् ॥१॥
सर्वबेदान्समुन्मथ्य क्षीरवाद्धैरिवामृतम्।
तच्छ्रीभागवतं ज्ञानं प्रोक्तं भगबता स्वयम् ॥२॥
तत्सारभूत–निखिला पंचाध्यायी निगद्यता ॥

तत्र तावत् दशमस्कन्धार्थो निरोधो निर्णीतः, अतोऽत्र पञ्चाध्यायां श्रीकृष्णप्रियवर्गयोः परस्परनिरोधोऽनुवर्ण्यते, स तु इतररसाभि-भवपूर्वकं विलासात्मकं प्रेम्नि देहेंद्रियमनसा स्थितिः निरोध इति, प्रेमलक्षणं रसार्णवे–"स प्रेमा भदेरहितं यूनोर्यद् भाववंधन-मिति"।

अत्र प्रेम्नि श्रीकृष्णप्रियबर्गयोः क्षीरनीरवदाश्लेषः साम-रस्यान्न्यूनाधिकभावेन विबेक्तुं न शक्यते, तदुक्तं—

स्वांतयोः सर्वभावेन सेव्यसेवकयोस्तथा।
क्षीरनीरवदाश्लेषो विषयाधारता तथा ॥
अङ्गनामपि तादृक्त्वं स प्रेमा विनिगद्यते।
द्वाविंशतिविधः श्लेषो विज्ञेयोऽत्र सुबुद्धिभिः ॥

तथाहि प्रियवर्ग-श्रीकृष्णमनसोः सर्वांशेने संश्लेषः क्षीरनीर-
बत् अन्यत्सर्वं भक्तिरसतरंगिण्यां बिवृतमेव तत्र हृदयेन्द्रियमनसां
श्रीकृष्णदेहेन्द्रियमनःसु एकीकरणं, ब्रजदेबीभिः स्वहृदयमेवोद्वा-
दितं बद्यमानश्लोकेन—"चित्तं सुखेन भवताऽपहृतं गृहेषु यन्निर्वि-
शत्युत कराबपि गृह्यकृत्ये। पादौ पदं न चलतस्तब पाद मूलाद्
यामः कथं ब्रजमथो करबाम किं वा"। स्वाचित्तेन संश्लेषः
स्वपादयोः पादाभ्यां संश्लेषः अन्येन्द्रियोपलक्षणं अयं संश्लेषो
ब्रजदेबीकर्तृकः, श्रीकृष्णकर्तृकमाह—बाहुप्रसारपरिरंभेत्यादि-
नोक्तः। अन्यत्र गत्यानुरागेति अयं संश्लेषस्तु निरोधेनैव तत्रोदा-
हरणम। "कपोतौ स्नेहगुणितहृदयौ गृहधर्मिणौ। दृष्टिं दृष्ट्याङ्ग-
मंगेन बुद्धिं बुद्ध्या बबंधतुरिति"। "तत्र भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये
क्रीड़ार्थमिति चापरे," "देवस्यैब स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का
स्पृहेति" "लोकवत्तु लीलाकैवल्यमिति" सूत्राच्च, कुत्रचित् लीला
कुत्रचित् क्रीड़ा कुत्रचित् कर्मेति तत्र योगमायाकर्तृका क्रिया
लीला, प्रियवर्गैः सहाविर्भाविता क्रिया, क्रीड़ासामान्यात्तु शरी-
रव्यापारं कर्मेति एतत् त्रितयमपि विलासं न व्यभिचरति।
मधुररसाविर्भाविता क्रिया विलास इति लक्षणांतलीलोदाहरणं
"योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मन्ये द्वयोर्द्वयोः। प्रविष्टेनो" क्ति, अ-
नायासेन तत्तान्मध्ये प्रवेशो लाघवशक्त्या, सा लीला विलास
एव "ताभिः समेताभिः रुदारचेष्टित" इति।

क्रीड़ा बिलास एब "ततश्च कृष्णोपवन" इति सामान्यतः
शरीरव्यापारोऽपि विलास एव अन्यत्र स तु भिन्नान्यधिकारिनि
बत्सलसख्यादिरसेषु इह तु समानाधिकरणत्वं एवं भिन्नरसा-
लम्बनेभ्यो निरोधमुक्त्वात्र सजातिभ्यो निरोध उच्यते। "आज-
ग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमा" इति देहःसु ऐश्वर्यात्। श्रीकृष्णस्य
निरोध उच्यते मुनीन्द्रेण भगबान् अपि, सबंध-विषय-प्रयोजन-

विशिष्टेन ग्रंथस्योत्कर्षमाह-प्रतिपाद्यप्रतिपादक—संबधः तत्र
प्रतिपाद्यं प्रियवर्गश्रीकृष्णयोः विलासः, प्रतिपादकः श्रीशुकस्तस्य
बिलासप्रतिपादने प्रवृत्तिः निरोधेनैव। तदुक्तं "परिनिष्ठितोऽपि
नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया। गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यद-
धीतबान्" इति "आत्मारामोऽप्यरीरमत्" "भगवानपीति"
ऐश्वर्यान्निरोधः। यथा श्रीकृष्णस्य ऐश्वर्यान्निरोधेनैव बिलासे
प्रवृत्तिस्तथा मुनीन्द्रस्यापि विलासव्याख्याने प्रवृत्ति अतः प्रतिपाद्य-
प्रतिपादकसंबंधस्योत्कर्षमाह—प्रियवर्गस्य श्रीकृष्णो बिषय आधार-
श्च चन्द्रचन्द्रिकावत्,श्रीकृष्णस्य प्रियवर्गो विषय आधारश्च अन्य-
था एकतराभावे आभास स्यात प्रियबर्गस्वान्तस्य श्रीकृष्णो विषयः
आधारश्च, श्रीकृष्णस्वान्तस्य प्रियवर्गो विषय आधारश्च, प्रिय-
बर्गस्य श्रीकृष्णाङ्गं विषयः आधारश्च प्रियवर्गस्वांतस्य श्रीकृष्णो
विषयः आधारश्च श्रीकृष्णस्वांतस्य प्रियवर्गो बिषय आधारश्च,
प्रियबर्गस्य श्रीकृष्णांङ्गं बिषयः आधारश्च, श्रीकृष्णस्य प्रियाङ्गं
विषय आधारश्च, श्रीकृष्णस्वांतस्य प्रियवर्गाङ्गं विषय आधारश्च,
प्रियवर्गस्थितस्य श्रीकृष्णचित्तं बिषय आधारश्च,श्रीकृष्णस्य प्रिय-
बर्गाङ्गं बिषय आधारश्च, प्रियवर्गस्थितस्य श्रीकृष्णचित्तं बिषय
आधारश्च, श्रीकृष्णचित्तस्य प्रियबर्गचित्तं बिषय आधारश्च,प्रिय-
वर्गचक्षुषः श्रीकृष्णो बिषयः श्रीकृष्णचक्षुश्च एवमन्योन्यस्य बिषयी-
विषयस्याबस्थोक्ता ग्रन्थस्यापि स एव बिषय उक्तो नान्य इति।

अनेन बिषयवैशिष्ट्यमुक्तं प्रयोजनवैशिष्ट्यमाह—नित्यकिशोर-
बिलासस्फूर्त्या हृद्रोगस्य प्राकृतकामस्य शांति (क्षांति) द्वारा
लौकिककामेन श्रीकृष्णप्रियबर्गयोः परस्परबिहारदर्शनौत्कंठंच तद-
नुकूलत्वं चेदमेव प्रयोजनं अग्रे वदिस्यति। "बिक्रीडितं ब्रज-
बधूभिरिति" एतदनुसंधानवान्मुनीन्द्रः स्वाभिप्रेतं विलासं
कथयिष्यन् तादच्छ्रीकृष्णस्य मानसीलीलां विवृणोति—भगवा-

निति । तत्रादौ भावोत्पत्तिमाह-तदुक्तं रसार्णवे "निर्विकारस्य
चित्तस्य भावः स्यादादिविक्रिया" । साहित्यदर्पणे-"निर्बिका-
रात्मके चित्ते भावः प्रथमविक्रिया" । प्रेमलक्षणं "स प्रेमा भेद-
रहितं यूनोर्यद्भावबंधन"मिति । भावविशेष एव प्रेमा द्वयोरपर-
पर्यायत्वं, यद्यप्यखण्डो नित्यसिद्ध एब प्रेमा तत् साधकाश्च
नित्यसिद्धा एव तथाप्यंगांगिनोः क्रमेण संवंधस्योत्पत्तिः संवं-
धिन्युपचर्यते राज्यसंवंधवत् । अथावधिभूतो भाव उच्यते
तदुक्तं तत्र "प्रेम्नस्तु प्रथमावस्था भाव इत्यभिधीयते । भावो
त्पत्तौ हि हावः स्यात्ततो हेला प्रवर्त्तते ॥ भ्रूनेत्रादिविकारैस्तु सं-
भोगे वा प्रबर्त्तकः । भावः एबाल्पसंलक्ष्यबिकारो हाव इष्यते ॥
हाव एब विलासस्य पूर्णतां प्रतिपद्य वै । हेला नाम समा-
ख्याता प्रेम पूर्वं गतांगता ॥

तत्र बिभावैरनुभावैश्च सात्विकैर्व्यभिचारिभिः ।
बिषयैः परिचारैश्च कृष्णो हि रतिमाप्नुयात् ॥

तत्रालम्बनविभावः श्रीकृष्णः प्रियबर्गश्च, उद्दीपनविभाव-
श्चन्द्रचन्द्रिकाचन्दनलेपनशरदृतुमल्लिकाद्याः, परस्परं यूनोर्भ्रूनेत्रा-
दिविकाराः अनुभाबाः, व्यभिचारिणस्तु त्रयत्रिंशत् नेत्रागोचरे
प्रिये ग्लानिमोहमूर्च्छादैन्यादयः बिषयाम्तु अन्यान्यमुभयोरङ्गा-
दीनि, परिचारस्तु सखी इत्यादि एतैः स्थायीभाव एष्यते ।
भाबस्तु मानसो धर्म्मः उद्दीपनबिभाबेन मनसि विकारमापन्ने
सति भाबोद्बोधः तस्मिश्च सति उज्ज्वलस्थायीभाबः सिध्यति
तस्मिंश्च सिद्धे श्रीकृष्ण आत्मानन्दपूर्णं मन्यतेऽतस्तदर्थं मया-
रंभः । तत्राचार्यैरुपोद्घातत्वेनोक्तं पद्यं व्यख्यायते "ब्रह्मादि-जय
संरूढदर्पकन्दर्पदर्पहा । जयति श्रीपतिर्गोपी रासमण्डलमण्डन-
इति" । तथाभूतो जातः, यद्वा गोपी-रास-मण्डलं मण्डनं यस्य
स साधारणो भूषण-भूष्य भाव इत्युक्तात् प्राकृतकामस्येदं

पौरुषं यच्चरमधातुपातेन ब्रह्मादीनप्यभिभवतीति कामस्तु श्री-
कृष्णेनाभिभूतः, अग्रे बक्ष्यते । "आत्मन्यबरूद्धसौरत" इति-
लिंगात् निरोधः लक्षणेनालौकिकेन कामेन जित एव यतः श्री-
पतित्वमुपेत्य गोपी-रासमण्डलमण्डनो जातः, बक्ष्यति च
"आत्मारामोऽप्यरीरमत्", । अपि च आत्मारामता गौणीकृता
दृश्यते गोपीरमणेन मधुररसस्फूर्त्त्या स्वरूपलाभस्य बिवक्षित-
त्वाच्च । किंच साक्षात् मन्मथ इत्यनेन मन्मथस्यापि मोहेन
सामर्थ्याभावोऽत्र "आत्मन्यवरुद्धसौरत" इत्ययमेव चित्रं,यद्व्रज-
सुन्दरीणां विलासैः श्रीकृष्णमनसि निरुद्धे सति मनोजन्य-
कार्यस्यापि निरोधोऽतो मनः कार्यविशेषस्य चरमधातोरपि
निरोधो जात इति अयमर्थः इति ज्ञेयं, अन्यथाऽनेकयूथव-
तीनां ब्रजबल्लबीनां समाधानं न स्यादिति तासां निरोधस्य
वैलक्ष्यण्यान्तरं निरूपयिष्यते । "तदङ्गसङ्गप्रमुदाकुलेन्द्रियाः के-
शान् दुकूलं कुचपट्टिकां वा । नाञ्जः प्रतिव्योढुमलं ब्रजस्त्रियो
विस्रस्तमालाभरणाः कुरूद्वह:" इति प्रस्तुतमाह-

लीलात्र त्रिविधा प्रोक्ता मानसी बाचिकी तथा ।
शरीरेण तृतीया च तासां भेदा पृथक् पृथक् ॥

मानसी लीला यथा

"आगतासु विधास्येऽहं स्वागतं तासु सुन्दरम् ।
भयं प्रदर्शयिष्येहमिहामुत्र च यन्महत् ॥
पश्चाद्धर्मं प्रवक्ष्यामि तासां हार्द परीक्षया ।
श्रोष्यामि तासु युक्तिञ्च धैर्यच्युतिमहं पराम् ॥
रासक्रीड़ां करिष्यामि ताभिः सर्बाभिरद्भुताम् ।
आलिङ्गनं नखोल्लेखं संलापं-नर्म चोत्तमम् ॥
ताभिः सह करिष्यामि वरदानं यथा कृतम् ।
एवं ही मानसी लीला ध्यानानन्दमयी स्वयम्" ॥

किंच—

"स्वागतं वो महाभागा प्रियं किं करवाणि वः ॥
तासां भावपरीक्षार्थमित्याद्या वाचिकी स्मृता ॥
बाहुप्रसारितेत्याद्या शरीरा बहुधा मतेति" ॥

ननु यदि वेदपुराणप्रमान्या लीला नित्यत्वं श्रूयते विष्णुपुराणे-"सोऽपिकैशोरकवयो मानयन् मधुसूदन" इति "सदा रासरसोन्मत्त" "तद्व्रजदेवीकदम्बस्थः क्रीड़त्येव" सादिवद्रासक्रीड़ा कथमुच्यते तत्राह। यथोक्तं-"पुण्यं मधुवनं यत्र सांनिध्यं नित्यदा हरेः"। अन्यच्च "मथुरा भगवान्यत्र नित्यं संनिहतो हरिरिति" मथुरायां नित्यधिष्ठानत्वे देवक्यामाविर्भावेन सादित्वमिव वर्ण्यते। तथात्र कुमारीणां वरदानप्रयुक्तोऽयं रासविलासः सादिरिव निरूप्यते अत्र वृन्दारण्ये त्वृतवो देशविभागेन तदावर्तत एव तथा शरदृतुनिवासप्रदेशे शरत् संपादितां श्रियं दृष्ट्वा प्रतिश्रुता रात्रयः स्मृतिपथमवतीर्णाः मयेमा रंस्यथ क्षपा इति ताः प्रतिश्रुता रात्री वीक्ष्य शरदा उत्फुल्ला-मल्लिकाश्च वीक्ष्य रात्रिविशेषणं, भगवानपि ऐश्वर्यसुपूर्णोऽपि तदुपेक्ष्य निरोधात्मकविलासेनैव व्रजसुन्दरीभिः सह रमणे मनश्चक्रे मनो चकारेत्यर्थः ॥

व्रजे पञ्च विधा गोप्यः, नित्यसिद्धा १ उपासनासिद्धाः २ श्रुतयः ३ ऋषयः ४ देव्यश्च ५। नित्यसिद्धा दृष्टा, श्रुतिनां रिरंसाजनि तदुक्तं वृहद्वामनपुराणे–'तत्कदम्बकमध्यस्थः किशोराकृतिरच्युत" इति तं दृष्ट्वा रिरसा जाता, ताभ्यो भगवता वरो दत्तः, "पुरा सारस्वते कल्पे व्रजे गोप्यो भविष्यथ" एता कुमार्यस्तु श्रुतय इदानीमपि पूर्वानुरागं दृष्ट्वा कात्यायन्यर्चनप्रभवपुन्या, व्याजेन वरो दत्तो मयेमा रंस्यथ क्षपा इति। तास्तु कुमार्यो नवानुरागेण रिरंसया तं कालं प्रतिक्ष्यमाणा एव स्थिता

कदास्मानाहूय रमयिष्यतीति अतः तस्मिंस्तस्मिन् प्रतिश्रुते समये ता प्रतिश्रुता रात्री वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे। इदानीं शरत्कालीना रात्रय एव भावोद्बोधिका जाता इति भावः भावोद्बोधे लिङ्गं अग्रे वक्ष्यति। "जगौ कलं वामदृशां मनोहरमिति"। यद्यपि व्रजे द्वादशा रसाधिकारिणो वर्तते सर्वैरपि ध्वनिराकर्णत तथापि वेणुध्वनिना मधुररसाधिकृतानामेवाकर्षणं नान्येषामिति।

ननु वरदानसमय एव किमिति नाभिरमितास्तत्रायमभिसन्धिः पूर्वमल्पवयसकत्वेन रमणार्थमाकारणं नोचितमिति, अधुना रमणानुकूलवयस्तेन योग्या दृष्टा कारिता। श्रीकृष्णस्य सदा कैशोरकमेव वयो जातं ततो रमणयोग्यता जाता, एतदुक्तं पराशरेण "सोऽपि कैशोरकवयो मानयन् मधुसूदनः। रेमे ताभिरमेयात्मा क्षपासु क्षपिताहितः"। हरिवंशे-"युवतीर्गोपकन्याश्च रात्रौ संकल्पकालवित्। कैशोरकं मानयानः सह ताभिमुर्मोदहेति"। उत्फुल्लमल्लिका इत्यनेन वृन्दावनलतानामुद्दीपनत्वं सूचितं, शरदेति शरदृतोऽपि साहय्यं सूचितम्। नन्वेकेन श्रीकृष्णेन बहूनां तासां रमणं कथं? सर्वासामेवैकदैव सांनिध्यं च कथं? वक्ष्यति चाग्रे तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः प्रविष्टेनेति चेत्तत्राह–योगमायामुपाश्रित इति। तत्र केचिदाहुः योगमाया लीलोपयोगिनी काचिदचिंत्यशक्तिः अग्रे वक्ष्यति योगेश्वरेणाचिंत्यशक्तिमतेति तामुप समीपे आश्रितः सा च कृष्णविलासानुकूला यया सर्वेषु व्रजवासिषु कृष्णानदं संचार्यते। स्वस्वरसाधिकारेषु ते ते निरूध्यन्ते अग्रे वक्ष्यति मन्यमाना स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान्दारान् व्रजौकस" इति। यद्वा योगे संयोगे या माया कृपा स्नेह इति यावत् तामुपाश्रितः "स्यात् कृपादम्भयोः मायेति" विश्वः, यद्वा योगो व्रजसुन्दरीभिः संयोगः

तस्मिन् या मा लक्ष्मीः शोभेति यावत् तस्या आयः प्राप्तिः यया मुरल्या तां मुरलीमुप समीपे आश्रितः कदाचिदपि न त्यजति यथाऽन्योपि नायकः नायिकाभिसरणे रतिमाश्रितो भवति तथा श्रीकृष्णोऽपि मुरलीं सहचरीमिव मन्यमानस्तदाश्रित एव तिष्ठति, जगौ कलमिति लिङ्गाच्चेति। यद्वा योगस्यैश्वर्य्यादेर्मा संपत् तत्र उपाश्रितोऽपि रन्तुं मनश्चक्रे, यद्वा योगस्यैश्वर्य्यादेर्मा संपत् तस्यां उप समीपे स्थितायामपि तामनादृत्येत्यर्थः, रमणानुकूलत्वेन वीक्ष्य प्रतिश्रुता रात्री रेवाश्रित इत्यन्वयः, यद्वा योगमायां योगे बक्षसो योगे निमित्ते सप्तमी बर्तमाना या मा लक्ष्मीस्तथास्थितायामपि तामुपेक्ष्येत्यर्थः याभिः सह रमणं चिन्तनं ता एवाश्रित इत्यर्थः आथिकोऽयमर्थः व्यञ्जनावृत्या वा, यद्वा योगमाया काचिद्वृद्धा तपस्विनी रमणानुकूलामुपाश्रितः, यद्वा अभिज्ञास्त्वेवं बदंति योगे सम्भोगलक्षणे संयोगे या माया अघटितघटनाचातुरी तामुप आधिकेनाश्रित उपाधिके चेति कर्म प्रवचनीयत्वं यया एकेन स्वरूपेण वह्वीनां सांनिध्यं "तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोरि" ति वक्ष्यमाणत्वाच्च स्वैकनिकटत्वमान इति। यद्वा योगे माया स्वाभाविकी लाधवशक्तिरेवेति रात्री वीक्ष्येति रात्रयोऽपि स्त्रियः शरदपि स्त्री मल्लिका अपि स्त्रीजातयः अतः एवंभूते पुरुषप्रवेशशून्ये बृन्दाबनप्रदेशे रमणयोग्यां नित्यसिद्धां सामग्रीं दृष्ट्वा व्रजदेवीभिः सह रन्तुं मनश्चक्रे पूर्णमनोरथं चकारेत्यन्वयः। तस्य सत्यकामत्वात् सत्यसंकल्पत्वाच्च, "सत्य कामः सत्य-संकल्प" इति श्रुते"। यद्वा भगवानपि भगो भागस्तद्वानपि नन्दपुत्रत्वात् बात्सल्यरसालम्बनत्वात् नन्दयशोदाभ्यां लाल्यमानत्वात्सकलसुखपूर्णोपि बर्षपर्य्यन्तं धैर्यमबलम्बमानोऽपि ता प्रसिद्धाः मधुररसोद्दीपका रात्री वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे रात्रिदर्शनेन धैर्यच्युतिर्जातेति सूचितं, तत्रापि

बिशेषं व्याचष्टे शरदेति उत्फुल्लमल्लिका इति शरत्कृतसाहाय्यमितिभावः, यद्वा अयोगे माया दम्भका पर्य्यामिति यावत् तामुपाश्रितः व्रजौकसां समीपे कपटप्रकाशनात्। अयमर्थः व्रजसुन्दरीभिः सदा सम्बन्धेऽपि नान्योपलक्षितो विलासं करोत्येव यतो रसः परोक्ष्यं प्रकाशते इति श्रुते स्यात्। "कृपादम्भयोर्मायेति विश्वः," मधुररसावलम्बनाश्रयमन्तरेण नात्मानं पूर्णं मन्यते। अत एव रन्तुं मनश्चक्रे। यद्वा योगं भगवानपि सोऽपि ऐश्वर्यं तिरस्कृत्य रन्तुं मनश्चक्रे। अगमायां अंगेषु स्थाबरेषु तरुषु या माया कृपा तामुप समीप एवाश्रितः वृंदाबन तरुषु स्नेहमाश्रितः तेषां असङ्कोचनं कुर्वन् एते विलासोपयोगिनो मद्विलाससाक्षिण इत्येवं बिचार्य तेषां मध्ये स्थितः सन् रन्तुं मनश्चक्रे इति व्रजसुन्दरीमनोऽनुरंजनानुकूलं सङ्कल्पं कृतवान् इत्यर्थः। अहो अमी देवबरामरार्चितमिति तरुषु श्रीकृष्णस्नेहस्य प्रसिद्धत्वाच्च ॥१॥

तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखं,
प्राच्या बिलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः।
स चर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन्,
प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः ॥२॥

तदेवं श्रीकृष्णमनसि रिरंसापूर्णेऽपि भावरूपां प्रथमविक्रियामापन्ने सति चन्द्रस्यापि तत्कार्यत्वादुद्दीपनविभावत्वाच्च "चन्द्रमा मनसो जात" इति श्रुतेः कार्योन्मुखे सति कार्यं स्वयमेवोदेति, यथा रात्री-शरन्मल्लिकानामुद्दीपनविभावत्वं तथा चन्द्रस्यापि उद्दीपनबिभाबत्वमतः तस्योदयमाह-तदेति, तास्वनुरागशैथिल्यं कुर्बन्, यथा श्रीकृष्णो रमायामनुरागशैथिल्यं

कृतवान् तथैव चन्द्रोऽपि स्वकीयासु पूर्णमुज्ज्वलरसं प्राप्नुवत्
परकीयायां प्राच्यां दिशि पूर्णं रसमनुभवितुमुदत, "प्राची इन्द्र-
स्यैव स्यादिग्देवानामिति" श्रुतेः । किं कुर्वन् प्राच्याः ककुभो
मुखं शन्तमैः करैररुणेन विलेपनं प्राची पूर्वानुरागवती अत-
स्तस्याः सूर्येण सम्बन्धमात्रं ज्ञात्वा सक्रोध इवारुण्यमभि-
व्यञ्जन् उदगात् फुल्लैः कुमुदकुन्दादिभिर्मुखविकासेन पूर्वानु-
रागं विचिन्त्य तामनुसरन् शन्तमैः करैरस्मिभिः करतुल्यैः प्रणय-
कोपं कुर्वन् तेनोदयरागेण तस्याः ककुभो मुखं विलिम्पन्
दिवाकरे तस्या अनुरागभावमालक्ष्य चण्डांशुत्वात् अनुराग-
मन्तरेणोपभोग्यभावमालक्ष्य यत् परित्यज्यान्यत्र गतत्वात् वस्तु-
तस्तु श्रीकृष्णमनसोऽनुराग एव चन्द्रमस्यमित्युक्तं आसीत् मनः
कार्यत्वात् नवकुङ्कुमारुणमित्युत्तरश्लोके वक्ष्यति कारणगुणा हि
कार्यगुणानारम्भत इति न्यायात् पुनः किं कुर्वन् चर्षणीनां कृता-
कृतज्ञनावतां जनानां शुचः दिवा शरदर्कांशुजां तापान् मृजन्नाश-
यन् यद्वा चर्षणीणां सर्वत्र यदि भ्रमतां भगवद्व्रजमन्तरे क्वचि-
द्दैत्यभयप्राप्नुवतां जनानां शुचः पश्चात् तापान् मृजन् दूरी-
कुर्व्वन् भगवदानन्दस्य पूर्णचन्द्रद्वाराभिव्यञ्जितत्वात् तस्मिन्नेव
समये सर्वेषां व्रजौकसां तापमार्जनं जातमितिभावः, अन्यथै-
व्याकुला भवेयुरिति । वक्ष्यति च "मन्यमाना स्वपार्श्वस्था-
निति," तस्मिन्नुदिते सर्वेषां परमानन्दो भवत्येव, तापहरणम-
बान्तरव्यापार अन्धकारनिवृत्तिश्च किं च यथा श्रीकृष्णस्य
व्रजबल्लवीमनोऽनुरञ्जनमुद्देश्यं तथा चन्द्रस्याऽपि प्राचितापाप-
नोदनमुद्देश्यं सर्वजनतां पापहरणमानुषंगिकमिति । चन्द्रेण कार्य-
द्वयं साधितमित्यत्रानुरूपं दृष्टान्तमाह-प्रियः प्रियाया इवेति दीर्घ-
कालेन दर्शनं यस्य स प्रियः प्रीतिविषयः दीर्घोत्कण्ठायुक्तः प्रिया-
दर्शनेन गतव्यथः प्रियाया बिरहतापमपनेष्यन् नवकुङ्कुमेन

मुखं विलिम्पतीतिवत् अनेन बिरहतापहरणं परमानन्ददातृत्वं
च कार्य्यद्वयं सूचितमिति ॥२॥

दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं,
रमाननाभं नवकुङ्कुमारुणम् ।
वनं च तत्कोमलगोभिरञ्जितं,
जगौ कलं बामदृशां मनोहरम् ॥३॥

एवमुद्दीपनविभावस्योदयमुक्त्वा बिलासाधिकरणस्यापि श्रैष्ठ्य-
माह उद्दीपनबिभावं दृष्ट्वा शब्दात्मिकालीलां प्रादुश्चकार दृष्ट्वेति-
कुमुद्वन्तं चन्द्रं दृष्ट्वा कलं यथा स्यात् तथा जगौ वेणुं वादि-
तवानिति । आकाशस्थितोऽपि कौ पृथिव्यामुत्-आनन्दो
विद्यते यस्य सः कुमुद्वान् पृथिव्यामिति पृथिवीस्थजनेष्वानन्द-
दातृत्वं सूचितमिति । यद्वा कुमुत् कुमुदं विकसितं यस्मिन्
अन्योपलक्षणं रात्री-बिकाशिनि अन्यान्यपि पुष्पाणि विक-
सितानीत्यर्थः । श्रीकृष्णमनसि रसपूर्णे अखण्डने सति चन्द्र-
स्याऽप्यखण्डत्वं जातं तत्कार्यत्वादित्याह-न खण्डं मण्डलं
यस्य अनेन सर्वजने पूर्णानन्ददातृत्वं सूचितं, पुनः किं भूतं
रमाया आननस्येवाभा यस्य लक्ष्मीसहोदरत्वात् अत एव
चन्द्रदर्शने रमामुखस्मरणहास्यभावोद्दीपकत्वं व्यञ्जितम् । मुनी-
न्द्रोऽपि मत्यभिज्ञया सादृश्यं बदतीति । यद्वा रमयतीति
रमा या काचिद्व्रजदेवी तदाननतुल्यं, पुनः कथंभूतं नवकुङ्कु-
मारुणं अस्य दर्शनेनैतत्सूचितं रमाननं बिबाहसमये नवकुङ्कु-
मेन रञ्जितं अत एवारुणं चन्द्रस्योदयारुण्यं नरस्याननस्या-
ऽप्यारुण्यमनुमीयते उद्दीपके पुनः कुङ्कुमस्यापि गणितत्वात्
वनमपि मधुररसोद्दीपकं दृष्ट्वा तच्च तस्य चन्द्रस्य कोमलैः सुख-

किरणैः अभि निशङ्कं यथास्यात् स्पर्शेन नवानुरागसंबलितैर्गोभिः किरणैः तथा रञ्जितं यद्यपि पत्राणां हरितत्वं पुष्पाणां श्वेतत्वं तथापि किरणैरुद्धयारुण्येनारुणीकृतमिति पोषकत्वमुक्तम्. यद्वा तस्य कोमलैः सुखस्पर्शैं उदयरागपिञ्जीरितैर्गोभिः अञ्जितं कान्ति-बिशेषं शयितं "अञ्जू-व्यक्तिम्लक्षणकान्तिगतिषु" इति धातुः, न केबलं बनमेब रञ्जितं किन्तु श्रीकृष्णमनोऽपि रञ्जितं यतः कोमलमव्यक्तं मधुरं जगौ वेणुं बादितवान् । अयं भावः कृष्णस्याऽपि मनः कृष्णमेब तेन चन्द्रमसा स्वस्योदयरागेण रक्तं कृतमितीदमेव चित्रम् । यद्वा कं सुखं लाति गृह्णातीति कलं सुखं पूर्णमित्यर्थ, तच्च गानं कीदृशं वामदृशां मनोहरं बामा मनोहरा दृशो यासां तासाम्, यद्वा बामा बक्रा दृशो-रपाङ्गा यासाम्. यद्वा बामा शोभना दृशो दर्शनानि ज्ञाना-नीति याबत् यासाम्, मुनीनामपि मनोहरमोहकं इत्यर्थः । अय-मभिप्रायः ब्रजे द्वादश रसाधिकारिणो बर्तन्ते तथापि मधुर-रसाधिकृतानां निरोधो बर्णितः तदबधिकृतानां सुखबिशेषानुभवे तन्निरोधो बर्णितः तत्रैव स्थिता यतो वेणुध्वनिमार्गेणागता ॥३

निशम्यगीतं तदनङ्गयर्द्धन,
ब्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः ।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोदयमा,ः
स यत्र कान्तो जबलोलकुण्डलाः ॥४॥

ततो वेणुगीतगतस्वस्वनामाङ्कितमाह्वानं श्रुत्वा किं कृतमि-त्यपेक्षामाह ।-निशम्येति-तद्गीतं निशम्य व्रजस्त्रिय आजग्मुः । सर्वा एवागताः यद्यपि श्रीकृष्णेन याभ्यो बरो दत्तास्ता एव ा-कारितास्तथापि पूर्बानुभूतकृष्णानन्दाः सर्बा एब समागताः /

कीदृशं गीतं अनङ्गवर्द्धनं श्रीकृष्णबिषयकमलौकिकं काममेव बर्द्धयति पूर्वसिद्धमेवेदानीं वृद्धिं प्राप्तः अनङ्गवृद्धौ आकारण-संबलितबेणुगीतस्यैवासाधारणकारणत्वम् । अनङ्गस्तु मानसो धर्मो मनो भवत्वात् नान्योपलक्ष्यः । पूर्वं श्रीकृष्णस्यैबमनङ्ग आर्बिभूतो यतो रन्तुं मनश्चक्रे स एबानङ्गो बेणुनादद्वारा ब्रजसुन्दरीसञ्चारितः । एतासां पूर्वसिद्धो सुरूपो बर्तत एबातो-ऽनेन सह सम्भूय महतीं बृद्धिं प्राप्त इति भावः । श्रीकृष्ण-स्य कामेनैव तासां कामं स्वस्मिन् क्रोडीकृतस्तद्द्वारा आसां श्रीकृष्णे निरोध उक्तो यत आजग्मुः तत्र हेतुः कृष्णगृहीतमानसाः कृष्णेनैव गृहीतमाकृष्टं मानसं यासां ता मनस्याकृष्टे सति मनो धर्मस्य स्वत एबाकर्षणादीत्यर्थः । यद्वा तदनङ्गबर्द्धनं तस्य श्रीकृष्णस्यैव पूर्वमनङ्गं बर्द्धयतीति तथा । यद्वा तत् मोह-नार्थं प्रयुक्तं गीतं अनङ्गो नित्यसिद्धः स्थित एबालौकिकस्तं कामं बर्द्धयति उच्छलितं करोतीति । तथा मोहनार्थं प्रयुक्ते गीते अभिलाषबर्द्धकत्वम् । किञ्चाप्याजग्मुरिति आगमने हेतुः कृष्णेन स्वरूपेण माधुर्येन च गृहीतं मानसं यासां ताः न तु केबलेन मोहनगीतेन । यद्वा अन्योन्यमनङ्गबर्द्धनं यथा-ऽऽजग्मुरिति प्रबक्तृणा श्रीशुकेन स्वानुभबोक्तिः कृतेति, यद्यपि स्वस्व-यूथेन चलिताः तथापि अन्योन्यज्ञापकमलक्षितोद्यमाः श्रीकृष्णाकृष्टं मनस्तेन देहेन्द्रियाणामप्याकर्षणात् परस्पर-मलक्षितो न ज्ञापित उद्यमो याभिस्ता इन्द्रियाणां मध्ये बागीन्द्रियस्यापि तेनाकर्षणात् स्वाभीष्टं नोक्तवत्य इति भावः । शरीरानुसन्धानमकुर्वत्यो यतो बेणुगीतमागतं तेनैब मार्गेणा-गताः कुत्रेत्यपेक्षायां स इति समये दृष्टचरः कान्तः कोटि-कन्दर्पकमनीयस्वरूपस्तत्रानुरागसम्बलितो बरदानउद्दीपनबिभाब-संस्कृते रहसि प्रथमं कुमार्य्य एबागता अनास्वादितरमणा-

नन्दास्तल्लिङ्गं जवलोलकुण्डलाः, कुमारीणां एव कुण्डल-
धारणं, अन्यासां सामान्यपूर्वाणां ताटङ्कधारणमिति विवेकः ।
यद्वा यत्र कान्तः कस्य रमणात्मकस्य परमसुखस्यान्तः परा
काष्ठा यस्मिन् स, यद्वा अधिकरणस्यैव विशेषणम् ॥४॥

दुहन्त्योऽभि ययुः काश्चिद् दोहं हित्वा समुत्सुकाः ।
पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्याऽपरा ययुः ॥५॥

एवं कृष्णाकृष्टमनस्त्वेन सामान्यतो गमनमुक्त्वा देहदै-हिकाद्यनादरं कुर्वन्त्य ऐहिक--पारलौकिक-कर्मस्वभिनिबेशम-कुर्वन्त्यो योगिन इवाप्रत्यभिपत्तिरूपेन गृहादित्यागेन ययुरित्याह दुहन्त्य इति । तत्र काश्चिद्दुग्धाभिनिबेशबत्वं स्वजीबनभूत-दुग्धाग्रहं हित्वा चलिता इत्याह दुहन्त्य इति, उपासनासिद्धा-नामागमनमुक्तम् । दुहन्त्य णिजर्थोतभूत एव दोहयन्त्य इत्यर्थः । दुह्यत इति दोहो दोहनकर्म दुग्धं वा पात्रं वा तत्रैब त्यक्त्वा कथं भविष्यतीत्यनुसन्धानमप्यकुर्वन्त्यो ययुः अभिनिशङ्कं यथा तथा पत्यादिभ्यो भयमकुर्वन्त्यो ययु रिति यतः समु-त्सुकाः कालबिलम्बमसहमानाः काश्चिपयो आनीतं दुग्धं चुल्यामधिश्रित्य क्वथितमप्रतीक्षमाणाः ययुः । अपराः संयावं गोधूमकणामपक्वमप्यनुनूर्य युः । समुत्सुका इति सर्वासां बिशेषणम् ॥५॥

परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशून् पयः ।
शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम् ॥६॥

एवं लौकिकजीवनोपाययुक्तानां गृहं त्यक्त्वा कासांचिद्ग-मनमुक्तम् । इदानीं पत्यादिशुश्रूषणलक्षणस्य धर्मस्य त्यागमाह परिवेषयन्त्य इति । काश्चित्सिद्धमन्नं बन्धुभ्यः परिवेषयन्त्य-

स्तेष्वपेक्षितमदत्वा ययुः परिबेषयन्त्य इति ऋषिरूपाणामा-गमनमुक्तम्, काश्चित्वात्सल्यप्रेमबिषयान् स्तनन्धयान् शिशूंस्त-न्यमपाययन्त्यस्तेषां तृप्तिमप्रतीक्षमाणाः स्नेहं त्यक्त्वा ययुः पाययन्त्य इति दण्डकारण्यबासीरूपाणामुक्तम्, काश्चिद् पतीन् शुश्रूषन्त्यस्तच्छुश्रुषालक्षणं धर्मं त्यक्त्वा ययुः । शुश्रुषन्त्य उपासनासिद्धानां मुनिरूपाणामागमनमुक्तम् । यद्यपि पतिशुश्रूषणया धर्म सिद्ध्यतीति कामतापशान्तिश्च भबति तथाथ लौकिकधर्मेन लौकिकधर्मेति रसमुक्तम । लौकिकता-पापनोदनहेतूनामपि—अलौकिककामतापः निर्वार्यते साम-र्थ्याभाबसूचितः । काश्चिदश्नन्त्यो भोजनं कुर्वत्यस्तदपास्य त्यक्त्वा ययुः उदरपूर्त्तिमप्रतिद्यमाणाः ॥६॥

लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्यः काश्च लोचने ।
व्यत्यस्तबस्त्राभरणाः काश्चित् कृष्णान्तिकं ययुः ॥७॥

एवं तादृग्देहपर्यन्तं श्रीकृष्णाकृष्टं मनस्तेन सर्वसङ्गपरि-त्यागमुक्त्वा भूषितमेतदङ्गं रमणयोग्यं स्यादित्यननुसन्धान-बत्यः स्वाङ्गभूषामप्यानादृत्य ययुरित्याह ।–लिम्पन्त्य इति का-श्चित् लिम्पन्त्यः स्वाङ्गे चन्दनादिना लेपं कुर्वन्त्यः तदर्द्धा-बसितमपास्य ययुः अन्या प्रमृजन्त्य अङ्गोद्वर्त्तनादि कुर्वन्त्यः सर्बाबयबोद्वर्तनमप्रतीक्षमाणा ययुः । काश्चित् लोचने अञ्जनं अञ्जं त्यक्त्वा ययुः काश्चिद् व्यत्यस्तबस्त्राभरणाः । एवं देह-दैहिकाननुसन्धानजाते बस्त्राभरणादावपि हस्तपादादिषु उद्ध्वा-र्द्ध धारणादि-व्यत्ययेन विभ्रमो बर्णितः स चौत्सुक्य एव क्रीडाकृतः । एवं सर्वा अपि कृष्णान्तिकं ययुः । कुमार्यस्तु प्रतीक्षन्त्य एवाप्रमत्ताः स्थिताः तास्तु गृहत्यागमेव कृत्वा-

देहगेहसम्बन्धिष्वनुसन्धानं त्यक्त्वा ययुऽगता अन्यपूर्वास्तु रिति ॥७॥

"ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः ।
गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्त्तन्त मोहिताः ॥८॥

यदा देहगेहादिकार्यव्यग्राणां पत्यादिशुश्रूषाव्यग्राणामपि ममतां त्यक्त्वागमनं दृष्टं तदा काश्चित्पत्यादिर्निवारिताः स्मृतिश्च 'रक्षेत्कन्यां पिता प्रौढ़ां पतिः पुत्रस्तु वार्द्धके । अभावे ज्ञातयस्तेषां न स्वातन्त्र्यं क्वचित्स्त्रिया" इति पूर्वमैहिकपारलौकिको धर्मस्त्यक्ता एव कुलबधूत्वेन लज्जायुक्ता अपि लज्जां प्रतिबन्धं चावगम्य ययुरित्याह । – ता इति या ऊढागमनसमयेन बन्धूनां दृष्टिगोचरमवतीर्णास्तास्तु तैरेव निबारिताः परन्तु न न्यबर्तन्त गता एव यतो मोहिता अयंभावः– एतास्तु कृष्णेणाहूताः बेणुगीतश्रवणेनासां सम्भ्रममालक्ष्य निबारणे प्रवृत्ता, अनन्तरं बेणुगीतं श्रुत्वा तेऽपि तासां निबारणात्सिथिला जाताः अत एव दृढ़प्रयत्नेन न निवारितास्ततोऽनन्य बर्ततन्ते चेद्वेणुगीतसुखेति मग्ना न भबेयुस्तदा पत्यादीन् अवगण्य कथमासामागमनं भबेत्, यत एते मोहिताः । पूर्वमेबोक्तं योगमायामुपाश्रित इति, अग्रे बक्ष्यति च "मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थानिति" तत्र हेतुमाह– गोविन्देनापहृत आत्मा चित्तं देहश्च यासां ताः किं च यथा गङ्गा समुद्रं गच्छन्ती पर्वतादिप्रतिबन्धनमबगण्य समुद्रमेव प्रविशति तस्मिन् प्रेमाधिक्यात् तथा एता अपि पत्यादिभि दृष्टा भयप्रदर्शनेन निबध्यमाना अपि न न्यवर्तन्त किन्तु मोहिताः हतविवेकाः कृष्णप्राप्त्यतिरिक्तबिबेकरहिताः ॥८॥

"अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः ।
कृष्णं तद्भावना-युक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः ॥९॥

किं च ताः सर्वाः प्रतिबन्धकशैथिल्येन कृष्णान्तिकं प्राप्ता यास्तु प्रतिबन्धकप्राबल्येन निरुद्धास्तासां सद्यो देहपातं कथयन् ताभ्यः पूर्वमेव तासां श्रीकृष्णान्तिके प्राप्तिकारमाह—अन्तरिति । काश्चिदुपासनासिद्धाः कस्यचिद् गृहकर्मणश्चिकीर्षयात् गृहगताः वेणुगीतश्रवणान्तरमेवान्यासामागमनसंभ्रममालोक्य पत्यादिभिरवरुद्धा जाता अत एवालब्धविनिर्गमा न लब्धो बिनिर्गमो याभिस्ताः तदुक्तं–"गोप्यस्तुश्रुतयो ज्ञेया ऋषिजाः गोपकन्यकाः । देबकन्याश्च राजेन्द्र न मानुष्यः कथञ्चन" । किं च–"नित्यां मे मथुरां विद्धि बनं बृन्दाबनं तथा । यमुनां गोपकन्यांश्च तथा गोपालबालकानिति" । एतास्तु साद्यो नित्याश्च प्रतिबन्धनिरासार्थं कृष्णमेव दध्युः ध्यातवत्यः सक्रोधं यथा तथा पत्यादिमुखं पश्यंत्यो निर्गमद्वारमलभमाना मीलितलोचना जाताः कीदृश्यः निरोधात् प्रागऽपि तद्भावना रहस्यभावना युक्ताः । यदा तस्य भावना युक्ता आसन् "विघ्ने जाते प्रेम-पूरस्य प्राबल्यं भबतीति" श्रूयते । यथा नदीप्रवाहस्य पर्वतादिना प्रतिबंधत्वं प्रतिबेत्सतोति बेगाधिक्यं भवतीति । अतो यथा पूर्वं श्रीकृष्णेनाभिरमिताश्चुम्बनालिंगनादिभिरानन्दिता तयैव भावनया युक्ता दध्युः नह्यननुभूतं स्मर्यते । यद्वा तद्भावना तत्पूर्व रमणं भावयन्त्यः युक्ताः श्रीकृष्णस्वरूपे योगं प्राप्ताः । यद्वा युक्ता योगिन इव अत्र इवार्थो द्रष्टव्यः स्वदेहविस्मरणपूर्वकं तत्तादंगबिभावनपूर्वकं दध्युः स्मृतवत्यः कीदृश्यः मीलितलोचनाः अर्बाहिवृत्तिनेत्रा, यद्वा मीलितं सिथिलीकृतं लोचनं बिचारसामर्थ्यं याभिस्ताः अन्यज्ञानरहिता

अपि तमेव दध्युः श्रीकृष्णप्राप्तये ध्यानमंतरेणोपायांतरविचारे शैथिल्यं जातमितिभावः ॥९॥

"दुःसह-प्रेष्ठ-विरह-तीव्र-ताप-धुता-शुभाः ।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेष निर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः ॥१०॥

किंचिदिदानीं तासां मनसश्चेंद्रियाणां च श्रीकृष्णाकृष्टत्वेन तन्निरोधे पत्यादीनां सामर्थ्याभावात् देहमात्र प्रतिवंधे जाते किं वृतमित्यपेक्षायां तद्वृतान्ताभिज्ञो मुनींद्रः प्रत्यक्षमिव दृष्ट्वाह बिप्रकृष्टं व्यवहितं सम्यक् पश्यन्ति योगिन इत्युक्तमेव ततश्च प्राकृतानां मानुषीभावप्रतीत्या गुणमयत्वेन प्रतीयमानं देहं पत्यादिमनाबिष्टमंतर्द्धाय छायामयं तत्रैव स्थापयित्वा सद्य एव श्रीकृष्णं प्राप्ता इत्यादि श्लोकयुग्मेन दुःसहेति दुःसहः सोढुमशक्यः प्रेष्ठस्यातीबप्रियस्य बिरहो बिप्रलंभस्तेन तीव्रो यस्तापस्तेन धुतान्यशुभान्यमंगलानि यासां ताः दुःसहशब्देन प्रतिक्रियाशून्यत्वमुक्तम । अन्यत्र बिप्रलब्धे सख्योऽपि तैस्तैर्हितकथनैरासां बन्धादिभिः प्राणरक्षां कुर्वन्ति । अत्र तु सख्यादिसाहचर्याभाबात् स्वयमेब विरहतापमनुभूतबत्यः । यद्वा दुःसहो यः प्रेष्ठस्य बिरहस्तस्मात्तीव्रोऽनिबार्यस्तापस्तेन धूतो निरस्तः अशुभः श्रीकृष्णसंगतिप्रतिबन्धरूपो शुभाभाबनाख्यो बा संस्काराख्यो बा देबत्वप्रापकं कृत्वादिजन्यं यासां ताः। ननु कृत्वादिजन्या पूर्वस्याशुभत्वं कथमुच्यते । परिणामे स्वर्गसुखजनकत्वात् न ह्यशुभेन शुभं जन्यत इति च तत्र समाधत्ते-साम्प्रतं दुःखप्रदत्वेन प्रतीयमाणत्वाद् शुभत्वं तपोबत्। यथा तपः कायःक्लेशजनकत्वादशुभमिब प्रतीयते तेन शुभं स्वर्गादिसुखं जन्यत एब तथात्रापि अशुभेन कृत्वाद्यपूर्वेण शुभं मङ्गलरूपं स्वर्गसुखमुसाद्यत एब यथा योगे तमु-

भयमपि हेयं ब्रह्म-प्राप्तिप्रतिवंधकत्वात्तथा श्रीकृष्णप्रियाणामप्युभयं प्रतिवंधकमेवोक्तं धुता शुभाः अशुभजनस्य शुभस्यापि निरसनमाह ध्यानेति ध्यानेन प्राप्तस्यास्याच्युतस्य क्षणमात्रमपि बिलासच्युतिरहितस्य कृष्णस्याश्लेषालिङ्गन-सर्वाबयवसंस्पर्शेन या निर्वृत्तिः सुखं । यद्वा ध्याने प्राप्ता अच्युताश्लेषनिर्वृत्तिः श्रीकृष्णसुखं तेन क्षीणं दूरीकृतममङ्गलं शुभं कृत्वादिफलं स्वर्गादिसुखं यासां ताः कारणनाशे कार्य नाशस्यावश्यं भावित्वात् अत एव ता शुभात्मकत्वेन प्रतीतं गुण मयं देहं जहुः। शुभाशुभत्यागस्य गुणमयदेहत्यागेनोपचर्यमाणत्वार्दिति। ननु कृष्णप्रियाणां देहस्य गुणमयत्वं कथं अप्राकृतत्वादलौकिकत्वाच्च सत्यं साकं बिजह्रुः कृतपुन्यपुञ्जा इतिवत्। उपासनासिद्धानां पूर्बकृतपुन्यपुञ्जानां देहस्य पुण्यविशिष्टत्वात् ॥१०॥

"तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः ।
जहुर्गुणमय देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः ॥११॥

अलौकिक्या उपासनया श्रीकृष्णबिलासयोग्यदेहस्य प्राप्तत्वात् देवत्वप्रापकं कूटरूपं तदपूर्वं स्थितमेवासीत्। अत एव तद्गुणमयं देहं जहुरिति गुणत्यागे गुणमयस्यापि त्याग उक्तः सद्य एब सम्बन्धत्यागः सम्बन्धिन्युपचर्यते राज्यत्यागबत् स्फुटत्वप्रदर्शनार्थं पृथगुक्तो गुणमयं जहुरिति। किं च यद्येतासां कृत्वादिजन्यं देबत्वाद् देबत्वादिप्रापकमपूर्वं नाभविष्यत् तदा पत्यादिभिरेताः प्रतिबद्धा नाभबिष्यन्निति क्रियातिपत्त्या ज्ञायतेऽनुमीयते च एता कृत्वाद्यपूर्वबिशिष्टा पत्यादिनिरुद्धत्वात् प्राकृतस्त्रीबत्। अत एब कारणस्यापूर्वस्य नष्टत्वाज्जहुरिति । प्राकृतगुणस्य चेत्त्यागस्तर्हि निर्गुणत्वेन प्राकृतगुण-

रहितेन बिलासप्रधानेन माधुर्यपुंजात्मकेन नित्यसिद्धव्रजदेवी-सदृशेन देहेन तं प्रापुरिति। नन्वलौकिकदेहप्राप्तौ किं कारण-मित्युक्तमाह-ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्त्यालिंगना क्षीणं परिपुष्टं मण्डलप्रवेशहेतुर्यासां ताः। ननु देहत्यागे सति चैतन्येन देहा-न्तरेण वा तत्प्राप्तेः चेत्तर्हि गुणमयंत्युक्त्वैवैश्वर्य्यं देहं जहुरेता-वदेव वक्तुमुचितम् । तत्र समाधत्ते देबांगनानां देबत्वादेब नित्यत्वं सिद्धेस्तु नित्येन चैतन्यघनेन देहेन तत्प्राप्तिरुच्यते। न तु देबांगनासदृशेन तत्र हेतुमाह—सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः प्रशब्देनातिशयोक्तिः सवासनस्य बन्धनस्य देवत्वादिसंस्कारस्य क्षीणत्वान्नित्यसिद्धानादिसदृशेन प्रापुरेव ताः समंजसः। न हि देबांशरूपया देबानामिव पुनरपि देबत्वपापकं सर्वदैब तासां कृष्णप्रियाणां प्रारब्धमस्तीति। न च चैतन्येनाशरीरिणा सर्व-लावण्यविशिष्टस्यालिंगनं रसजनकं केनाप्येत्यपगम्यत इति, यद्वा दुःसहो यः प्रेष्ठस्य बिरहस्तेन यस्तीव्रस्तापस्तेन धुतमपा-स्तं पत्यादिनिरोधलक्षणमशुभं यासां ताः मधुररसस्य बिप्र-लंभसंभोगात्मकत्वात् । विप्रलंभस्य दुःखवत् प्रतीयते, 'धुता शुभा इति बाचो युक्तिः बस्तुतस्तु बिप्रलंभस्यापि परिणामतः सुखरूपत्वोक्तेः मानत्वात् बिरहतापेन दुःखभोगात्रुटिः द्रष्टव्या बन्धन-बिशिष्टं जहुरिति। जारबुद्धिस्तु न त्यक्ता रसबिशेष-जनकत्वात् संस्कारजन्या प्रतीतिः । संस्कारसिद्धयेऽनुयोगिनम-पेक्षते न प्रतियोगिनमिति। ननु जारबुद्धिः निंद्यते एव यस्यां बिद्यमानायां नित्यमण्डलप्रवेशे संभावनानुत्पद्यते तत्कथमुच्यते तमेबसंगता इति चेत्तत्राह-यद्येतासां जारबुद्धिर्गर्हिता स्या-त्तदा परमतत्वविदा महाभागवतेनोद्धवेन चरणरजः प्राथना कथं क्रियत इति। एतापरं तनुभृत इति अत एबाग्रे श्रीमुखे-नोद्धवं प्रत्युक्तं-"या मया क्रीडता रात्र्यां बनेऽस्मिन् ब्रज

आस्थिताः। अलब्धरासाः कल्याण्यो माऽऽपुर्मद्वीर्यचिन्तया ॥ इदमत्र तत्वं याः पत्यादिभिर्निबारितास्तास्तेभ्यो छायामयं दत्वा व्यासाय छायाशुकबत् श्रीकृष्णध्यानानुभावेन स्वदेहमंतर्द्धाप्य तत्सदृशेन लौकिकेन देहेन तं प्रापुरिति। अत एवाग्रे बक्ष्यति-मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकस इति तासां पत्यादयोऽपि न दुःखं प्रापणीया इति । एतेऽपि स्व स्वरसे आकुलंबन्तः पाल्याश्चेति अस्यानुसंधानस्य योगमाययैव कृत्वात् । यद्वा तमेब देहं ध्रुबबदलौकिकं बिधाय तत्सदृशं तत्रैब स्थापयित्वा तं प्रापुस्तदभिप्रायेणोक्तं गुणमयं जहुः पत्यादिभ्यः समर्पितबत्य इत्यर्थः। ननु कपाटादिभिः संवृत्ते अंतर्गृहे रुद्धस्य देहस्यालौकिकत्वे जातेऽपि श्रीकृष्णान्तिके कथं गमनं संभवेत्तत्र समाधानं-यथाऽर्जुनेन शरपंजरावृते ब्राह्मण-पुत्रस्य दर्शनमुक्तं महाकालपुरगमनं चोक्तं न चायं योगमा-याया अतिभारः तस्या अचिंत्यशक्तित्वात्। यद्वा तद्भावना-युक्ताः तं ध्यातबत्यस्तद्विषयकरमणभाबनायुक्ताः तद्रमणयोग्यं देहं जगृहुः। पत्यादिषु रमणभाबनायुक्तं जहुरिति। अत्र तु भावना-त्यागस्य शरीरत्यागेन बिबक्ष्यमाणत्वात् शरीरत्या-गस्तु सर्वथा न बिबक्षित इति शरीरांतर्द्धाप्य बिबक्षितत्वात् च छायामयस्य तत्रैब स्थापितत्वात् यथा ब्रह्मणो भाबनात्याग एव शरीरत्यागत्वेनोक्त इति अत एब गुणमयदेहत्यागपूर्वक-परमात्मप्राप्तेरेब सर्वजनप्रतीत्या मुक्तिपदत्वेनाभिधानस्य मान-त्वमिति न किंचिदसमंजसम ॥११॥

राजोबाच—

"कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने ! ।
गुणप्रवाहो परमस्तासां गुणधियां कथम् ॥१२॥

ननु गुणमयं देहं जहुरित्युक्तेः यास्तु रुद्धास्ताः ध्यानेन
मुक्ताः जाता इति सर्वेषां प्रतीतिर्जातास्तत्र "ज्ञानादेवहि कैब-
ल्यमिति" श्रुतेः तच्च ज्ञानं कैवल्यबिषयं न तु गुणविषयं
गुणबिषयत्वेपि । एतासां जारबिषयं तत्सद्भावे सुतरां मुक्ति-
संभाबनापि कुत इति । सर्वेषामपि वैष्णबानां मुक्तेर्हेयत्व-
मुक्तं किमुत कृष्णप्रियाणामिति स्वमनसि संशयरहितो तासां
नित्यमण्डलप्रबेशं जानन्नपि सर्वेषां मुखाप्रसन्नतया संदिहा-
नचित्तावृत्ती परीक्षत् पप्रच्छ प्रश्नं कृतः श्रीकृष्णपरीक्षणात सर्वेषां
हृद्वृत्तिपरीक्षणात रसपरीक्षणाच्च हेतुत्रयेण परीक्षित् न चाज्ञा-
नेन बा प्रश्नः किन्तु सर्वेषामनुरोधेनोवाच । परं केवलं कृष्णं
कान्तं ऐश्वर्य्याद्यमिश्रं, यद्वा कान्तं रमणीयं जारमित्यर्थः ।
विदुर्ज्ञातवत्यः एवं श्रूयते ज्ञानिनां मुक्तिः संभवतीति तत्र च
श्रीकृष्णतया ज्ञानतो मुक्तिर्भवति न तु तदस्तीत्याह-न तु
ब्रह्मत्वज्ञानबतो वा तत्साधनं परस्य बा मोक्षः संभाव्यते न
च तदस्तीत्याह-गुणधियां गुणे श्रीकृष्णलावण्यादौ धीर्यासां,
यद्वा गुणे रहसि श्रीकृष्णेन सह रमणे धीर्यासां, यद्वा
गुणे रासोपयोगिनृत्यगानादौ धीर्यासां तासां गुणप्रबाहोपरमः
गुणो रासविलासादिस्तस्योपरमो निर्वृत्तिः कथमिति प्रश्नः
देहत्यागे स्वत एब तत्संभवात् गुणप्रबाहः रासबिलासादि-
प्रवाहः उपरमः कथं एतास्तु नित्यसिद्धाभ्योपि कृष्णानंदास्वाद-
बिशेषेण स्वादितबत्यः । नित्यसिद्धानामेतादृशविरहदुःखाभा-
बात् विप्रलम्भेन रागोत्कंठयं भवति । उज्वलस्य संभोग-बिप्र-
लंभात्मकत्वात् तदुपेक्षया नित्यसिद्धानां न्यूनत्वमेतासामुक्त-
मत्वं देहत्यागेन रासबिलासाऽप्राप्तेः गुणप्रबाहो न्यूनत्वं कथम-
उक्तं च "न विना विप्रलंभेन श्रृंगारं पुष्टिमश्नुते । काषा-
यिते हि बस्त्रादौ भूयान् रागोऽभिजायते" । इति यदा गुण-

मयं देहं जहुस्तदा तमेव परमात्मानं संगता इत्यनेन सायुज्य-
लक्षणं मोक्षं प्राप्ता इति सर्वेषां प्रतीतिर्जाता तदसंभावने राज-
प्रश्नः रासबिलासभाबनाविशिष्टानां रासविलासप्राप्तिरेबोचिता
सायुज्यब्रह्मभाबनायुक्तानां सायुज्यमुचितं न तु रासबिलास-
प्राप्तिः । "अंते या मतिः सा गतिः प्रसिद्धेः । यद्वा गुणे गौणे उप-
पतित्वात् तस्मिन् गुणप्रवाहहेतौ धीर्यासां तासां गुणप्रवाह-
स्य संसारस्योपरमो नाशो मोक्ष इति यावत् कथं घटेत
एतास्तु देव्य उपासनासिद्धाः पूर्बजन्मनि इदानीमपीति-"तत्व-
मस्यादि-महाबाक्यालोचनतत्साधनमंतरेण मोक्षः कथं जातः
एताभिस्तु बिलासभाबनाकृतदेहं जहुरिति देहमन्तरेण रास-
बिलासप्राप्तिः न घटेतेति । अन्यथा देबत्वसाधकेन कृत्वाघ-
पूर्वेण सुरत्वं स्यात् असुरत्वसाधकेन ब्रह्मद्रोहेण देवत्वं स्यात्
अति प्रसंगात् बिनिर्गमकामात् मोक्षस्य तु "दुःखगमात्म-
तत्वनिगमायेति" श्रुतिभि र्हेयत्वेनोक्तत्वात् । अन्येषामपि
वैष्णवानां मोक्षानामनभिरुचेस्तत्र तत्र श्रूयमाणत्वात् न नाक-
पृष्ठमित्यादिना कथितत्वाच्च कृष्णप्रियाणामेतासां किमुतेति
प्रश्नः हे मुने अस्य मननस्य बहुशोऽभ्यस्तत्वात् ॥१२॥

श्रीशुक उवाच—

"उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः ।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः ॥१३॥

अधुना राज्ञः प्रश्नं सम्यगवधार्य हेतुबादिनां केषांचि
हृद्वृत्तिं बिदित्वा कृतप्रश्नं स्वाभिप्रायविदं राजानं प्रति स्वमतं
सक्षोभं व्यंजयन्निब हेतूक्तिनिपुणाभिरुत्तरी करिष्यन् कृष्ण-
प्रियाणां ईदृक् प्रश्नस्यानौचितीं दर्शयन् तासां कृष्णप्राप्तावसंभाव-
नाबिपरीतभाबनानामनर्थबहुत्वं प्रकटयन् तासां द्वित्रिक्षणादिना

व्यबधानमङ्गीकृत्योत्तारयति गुणप्रबाहोपरमः रासबिलासनिवृत्तिः
कथमिति प्रश्नस्योत्तरं द्वित्रिक्षणमात्रोपरमेऽपि पुनरपि ततोप्या-
धिक्येन बिलासप्राप्तिर्जातेति सूचयन्नाह उक्तं पुरस्तादित्या-
दिभिः । भगबन्माहात्म्ये रसभाबनायुक्तान् लक्ष्मीकृत्याह ।—
युधिष्ठिरस्य राजसूयं द्विषतोपि चैद्यस्य श्रीकृष्णेन परोक्षं प्रवेशं
दृष्ट्वापि संदिहाना भवतीति । चित्रं पुरस्तात् सप्तमस्कंधे ते
तुभ्यं मयोक्तमेव तत्किं त्वया विस्मृतमिति सानुशयोक्तिः । हृषी-
केशमपि इन्द्रियप्रवर्तकमपि, अपि शब्द उभयत्र संबध्यते ईश्वर-
त्वेन तमजानन् द्विष्यन्नपि चैद्यो नित्यपार्षद एव कालविलं-
बेन यथा सिद्धिं पुनः पार्षदरूपतां गतः न तु ब्रह्मणि लय-
रूपं सायुज्यं गतः । यदि ब्रजदेवीनां मुक्तिरभिप्रेता स्यात्ताहि
चैद्यं न दृष्टांतीकुर्यात् । अधोक्षजप्रियाः किमुतेति अधोक्षजेषु
अंतर्मुखेष्वक्षेषु ईन्द्रियेषु जायते आविर्भवतीति तथा, यद्वा
शकटाधः शयाने श्रीकृष्णे शकटाद्विमुक्ते सति ब्रजेश्वरीं
प्रति गोपीभिरुक्तं दिष्ट्या तव सुतः पुनर्जात इवेति । तदा
यशोदयोक्तं 'न मतो जातः किन्तु अधोक्षाज्जातोऽधोक्षाज्जातो
अधोक्षज इति तस्य अधोक्षजस्य यशोदानन्दनस्य स्वप्रियाः
सिद्धिं तत्स्वरूपं गता किमुत बक्तव्यमित्यर्थः । निर्गुणस्वरूप-
ग्रहणमन्येषां भक्तानामयुक्तमिति । भावनात्यागस्यैव देहत्याग-
त्वेन मया व्यंजितत्वात् । अतो भवद्भिर्नैवंविधः प्रश्नः कर्तव्य
इति नियम्यत इति ॥१३॥

"नृणां निःश्रेयसार्थाय ब्यक्तिर्भगवतो नृप ? ।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥१४॥

ननु चैद्यस्य ब्रह्मशापाल्लब्धदैत्यदेहस्य जन्मत्रयान्ते पुनः
पार्षदरूपतां प्राप्तये लब्धसंभावनस्य देहपातमन्तरं पार्षददेह-

प्राप्तिरुचिता, स एतासां गुणमयदेहत्यागान्तरमेव नित्यमण्डल-
प्रबेशः कथमिति चेत्तत्राह येन केन मधुररसातिरिक्तान्यतररसा-
नुभावेनापि संबन्धः श्रीकृष्णं प्रार्थयति बहुशो दृष्टचरत्वादि-
त्याह—नृणामिति भगवतोऽचिन्त्यैश्वर्य—स्वरूपस्य इच्छामात्रे-
णापि भूभारहरणसमर्थस्य श्रीकृष्णस्यावतारिणोऽभिव्यक्तिः-
सामान्यतो भूचरमात्राणां निःश्रेयसेन मोक्षेन सहार्थः । "परम-
पुरुषार्थो भक्तियोगस्तत्प्राप्तये" यद्वा निःश्रेयसं भावस्तस्यार्थः
परं प्रेमा तत्प्राप्तये तत्प्राप्तमित्यर्थः । अबतारिणः श्रीकृष्णस्य
भूभारहरणं मुख्यं प्रयोजनं नास्ति, किन्तु यादृशो भावो ब्रज-
सुन्दरीषु तादृशं भावं सर्वत्र संचारयितुमभिव्यक्तिः, नृणा-
मित्युपलक्षणं पशु-पक्षि-वृक्षादिष्वपि ज्ञेयम । तथोक्तं "गाव-
स्ततो गोष्ठमुपेत्य सत्वर" मिति "प्रायो वताम्ब बिहगाः मुनयो
बनेऽस्मिन्निति" । "अहो अमी देववरामरार्चितमिति" । तेस्वपि
भावस्याभिव्यक्तित्वादिति । भगवतः स्वैश्वर्येण ब्रह्मादिनपि
बसयितुं समर्थस्य अबतारिणो व्यक्तिरवतारकलाविभूतीनां
कार्यकरणार्थमपि हे नृपेति सबोधनं । यथा श्रीकृष्णेन नर-
मात्रः प्रेमामृतदानेनानन्दितः तथा त्वयाऽत्रत्येषु नरमात्रेषु भक्तिप्र-
बर्त्तनेन नराः पालनीया इति । निःश्रेयसार्थायेति तादर्थे चतुर्थी
तत्र हेतुत्वेन प्राण-बिषय-चतुष्टयं अव्ययस्येति भक्तेभ्यो निजांग-
दानेऽपि व्ययरहितस्य तत्किमर्थमात्मानं ददाति तत्र हेतुः
गुणात्मनः गुणाः कारुण्यादयस्तैस्तादात्म्यं प्राप्तस्यात एव कारु-
ण्येनैव भक्तेभ्यः आत्मानं ददाति स्वभावत्वादिति । नन्वा-
त्मदानेऽव्ययत्वं कथं तत्राह अप्रेमयस्यातर्क्यस्यापरिच्छिन्नस्ये-
त्यर्थः, परिच्छिन्नस्य दाने व्ययो भवति किं च "अचिंत्याः
खलु ये भावाः नस्तांस्तर्केण योजयेदिति" तत् कुतः निर्गुणस्य
मायागुणातीतस्य तत्रापि हेतुः गुणात्मनः मायागुणप्रबर्त्तकस्य

यद्वा निर्गुणस्य स्वयं गुणरहितस्य गुणात्मनः ब्रजसुन्दरीणां गुणे आत्मनि स्वरूपे यस्य आत्मन आदर्शस्थानीयत्वे च तासां नृत्यगानादिकलाकोशलादिगुणानां प्रतिबिंबितत्वात् गुणात्मकत्वं जातमिति भावः। यद्वा गुणात्मनः ब्रजदेवीनां गुणाः सौन्दर्यादयः आत्मनि चित्ते यस्य स्वयं निर्गुणस्य आत्मारामस्यात एव निर्गुणत्वमवगणय्य तद्गुणाकृष्टत्वेन तासां गुणमयदेहान्तर्धापनेन शंकूपरि दिव्यचक्रगतमंडलप्रवेशः कारितः। ननु निर्गुणश्चेत्कथमेवं कृतवान् तत्राहः—अप्रमेयस्य "तर्काप्रतिष्ठानादिति"। यद्वा निर्गुणस्यापि मादृशस्य गुणात्मनः गुणाः कीर्त्तनादयस्तत्प्रवर्त्तकस्य निर्गुणस्याप्यस्मदादीन् रासक्रीड़ादिबर्णनगुणेषु प्रवर्तयितुं तस्याभिव्यक्तिरितिभावः। अत एवावसाने"विक्रीड़ितं ब्रजवधुभिरिति" सर्वजनं स्वपरं कर्त्तुं रासक्रीड़ानिर्गमनं स्पष्टीभविष्यतीति। अतो यथा कथंचित्संबंधमात्रं सर्वेषां संसारापगमहेतुः किं पुनः कृष्णप्रियाणामिति ॥१४॥

"कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥१५॥

ब्रजदेवीनां श्रीकृष्णप्राप्तौ संदिहानान् प्रति इममर्थमन्यार्थनिदर्शनेन दृढीकुर्वन् कृष्णप्रियासु कैमुत्यन्यायेन सर्वोत्कृष्टत्वमाह तत्र भगवत्प्राप्तौ इह साधकं तान्युक्तानि तावत्तन्मध्ये द्वेषस्यापि हेतुत्वं तत्प्राप्तौ चैद्यदृष्टांतत्वेन दृष्टार्थकत्वमुक्तं। एवमन्येषामपि ते तत्प्राप्तिसाधनत्वं वदन् आद्यत्रिकस्यानूद्यत्वं अन्तत्रिकस्य विधेयत्वमाह। अनूद्यबिधेयभेदेन बिभिन्नानां सह प्रयोगदर्शनात्। कामोऽनूद्यः स्नेहो विधेयः। कामस्याधिकरणेन स्नेहविशेषदर्शनात्। एवं क्रोधमनूद्य ऐक्यं बिधेयं-

क्रोधाधिकरणेन सह ऐक्यं चेद्भवति तदा क्रोधनिर्वृत्ति दर्शनात्। एवं भयमनूद्य सौहार्दं बिधेयं यदुपादानं भयं तेन सह सौहार्दं चेद्भवति तदा भयनिवृत्तिदर्शनात् गृहं संमार्ष्टीतिवत्संभवत्येकबाक्यत्वे बाक्यभेदो हि दूषणमिति-न्यायात्। काममिति हरौ स्वमहिम्ना सर्वदोषहरणशीले कामादिकं विदधतः कुर्वन्तस्तन्मयतां ते यान्ति, हीति निश्चितमेव तत्। चैद्यदृष्टान्तेन तत्र कामं स्त्रीभावेनाभिलाषं कुर्वन्तो दंडकारण्यमुनयः स्वाभीष्टं ब्रजे जन्म श्रीकृष्णेन सह रमणं प्रापुः। क्रोधं वैरभावेन कुर्वन्तः चैद्यादयः स्वाभीष्टं पुनः पार्षदत्वं प्रापुः। भयं कुर्वन्तः कंसादयः कीटभृंगवद् भावेन सारूप्यलक्षणं मोक्षं प्रापुः। स्नेहं कुर्वन्तो युधिष्ठिरादयो धर्मांशरूपाः नित्यसेव्यं यथाभिलषितं कृष्णमेव प्रापुः। ऐक्यं सम्बन्धं कुर्वन्तो यादवाः देवांशरूपाः स्वाभिलषितसिद्धलोकवासत्वादिकं प्रापुः। सौहृदं प्रेम लक्षणां भक्तिं कुर्वन्तो ये वैष्णवास्ते स्वाभिलषितं आश्रयरूपं कृष्णमेव प्रापुरिति सर्वत्राभिषज्यते। नित्यं मरणपर्यन्तं निरन्तरं व्यवधानशून्यमित्यर्थः। यद्यपि कामादिषट्के क्रियमाणे बिषयमहिम्ना संसारोपरमो भवत्येव परन्तु साधनभेदात् साध्यभेदः। एतत्साधनकदम्बस्य कदाचित्प्राप्तत्वे तन्मयत्वं न सिध्येदिति। "न वेनः कतम" इत्युक्तेः। तदुक्तं सप्तमस्कंधे कामाद्द्वेषाद्भयात्स्नेहाद्यथा भक्त्येश्वरे मनः। आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः" इति नारदबाक्यप्रमाण्यात् अन्येऽप्येवं कुर्वन्तो भगबन्तमेव प्राप्नुबन्ति भावो हि भबकारणमिति प्रसिद्ध्या भावस्यैवानन्यथासिद्धम। किं च "गोप्यः कामाद्भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः। संबन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद्यूयं भक्त्या बयं बिभो"॥ इति कामादिनां पंक्तौ सामान्यतो यद्यपि गणनोक्ता तथापि पुनस्तत्रै-

चोक्तं "यथा वैरानुबन्धेन मर्त्यस्तन्मयतामियात् । न तथा भक्तियोगेन इति मे निश्चिता मति" इति । वैरानुबन्धनस्योत्कर्षानुक्तः वैरानुबन्धे बिधेये द्वेषाभिनिवेशस्योत्कंठादर्शनादिति । अन्यत्र कामस्याधिकरणेऽभिनिवेशस्य बाहुल्यदर्शनात् । शास्त्राज्ञागौरबे भक्तिमार्गगौरवे कामादेरपकृष्टत्वमेवायाति । तथापि न तथा भक्तियोगेनेति, अभिनिवेशात्कथने वैरानुबन्धस्यौत्कृष्टत्वमुक्तम् । ततोऽपि कामानुबन्धे बिधेये प्राकृतकार्यविषयमभिनिवेशाधिक्यं भवत्येव अत्र त्वलौकिके कामानुबन्धे विधेये योगादिनामलौकिकाभिनिवेशात् । रसमार्गबिचारे क्रियमाणे साधनषट्कमध्ये कामस्यैवोत्कर्षो बिषयोत्कर्षात् अन्यथा परमतत्वविदोद्धवेनासामहो चरण रजः प्रार्थना कथं क्रियते, किंच एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्व इत्यभिधानं न स्यात् । ननु कामानुबन्धस्य चेदुत्कर्षस्तर्हि भीष्मेण कथमुक्तां "प्रकृतिमगमन् किल यस्य गोपवध्व" इति कामानुबन्धस्यापकृष्टत्वं सत्यं, भीष्मस्य माहात्म्यज्ञान एवाधिकारः स्वरूपनिष्ठत्वाभावात् । अन्यथा माधुर्यपुंजे शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्य्ये श्रीविग्रहे शस्त्रैः प्रहारो न संभाव्यते अतो रसमार्गाधिकाराभावादेवमुक्तं अतो न बिरोधः । किंच कामादि-स्थायिभावेषु बिचार्यमाणेषु श्रीकृष्णाख्य-वस्तुसंस्पर्शाव्यभिचारभावे तस्या एव रतेरुत्कर्षः तदुक्तं –

कामं शरीरसंबन्धविशेषस्पृहयालुता ।
संनिधानासंनिधानभेदेन संभवेत् द्विधा ॥
तज्जन्यायां द्रुतौ चित्ते या स्यात् श्रीकृष्णनिष्ठता ।
संभोगविप्रयोगाख्यरतिः तासां क्रमाद्भजेत् ॥
क्रोध ईर्ष्यानिमित्तां हि चित्ताभिज्वलनं भवेत् ।
तज्जन्यायां द्रुतौ सा तु द्वेषशब्देन कथ्यते ॥

भयं चेतोव्याकुलत्वं स्वोपद्रवकदर्शनात् ।
उपद्रवकनाशार्थं तत्प्रीत्यर्थं बत द्विधा ॥
तत्राद्यं द्वेष एव स्यात् द्वितियं रतिशब्दभाक् ।
स्नेहः पुत्रादि-बिषयः पाल्यपालकलक्षणः ॥
सेव्यसेबकभावोऽन्यः सोऽप्युक्तस्त्रिविधो बुधैः ।
भगवद्दास्य-सख्याभ्यां मिश्रितं चापरं जगुः ॥
या कृष्णाकारिता चित्ते तज्जन्यद्रुतिशालिनी ।
पाल्यपालकभाबेन सा बत्सलरतिर्भवेत् ॥
सेव्यसेबकभावेन या रतिर्प्रीतिरीर्य्यते ।
संवधजाररतिर्याति पूर्बोक्तां रसतां द्वयी ।
एका बत्सलभक्त्याख्या प्रेयो भक्तिस्तथापरा ॥
तदैक्यं प्रीतिसंयोगात् दृश्यते भोजवृष्णिषु ।

सौहृदं सौहार्द्दं तच्च भक्तिरेव, तदुक्तं तृतीये "मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वं गुहाशये । मनोगतिरवि-च्छिन्ना यथा गंगाम्भसाम्बुधौ । लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्" एषु षट्सु साधनेषु आलम्बनोत्कर्षात्कामजारतेरुत्कर्षः । "शृंगारमिश्रिता भक्तिः कामजा रतिरिष्यते" । यथा वैरानुवंधजरतौ भयजन्यायां च रतौ वैरानुवंधभयत्यागपूर्वकं भगवत्प्राप्तिः, भगवतो यादबत्वानुकरणे सम्बन्धस्य कारणत्वं तदनुकरणपुरस्कृते सम्बन्धेत्युक्तेः । प्राकृतसम्बन्धत्यागपूर्वकमेव कामवत्प्राप्तिः । पाल्यपालकत्वपुरस्कृतः स्नेहः पाण्डबेषु स च प्राकृतेषु भावं त्याजयित्वाऽलौकिकेन भावेन भगवत्प्राप्तिहेतुर्जातः भक्तेर्माहात्म्यं नारदादिषु च दृष्टचरमेवेतिदिक् ॥१५॥

"न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे ।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद् विमुच्यते ॥१६॥

तथापि विस्मृतमुखं राजानं तमालक्ष्य सोपालंभवचनेन विस्मयमपाकरोति न चैवमिति । अतोऽसंभावना विपरीतभावनाविष्टाः भक्त्यभावात् विस्मयं कुर्वन्तु नाम भवतोऽनुश्रीकृष्णमाहात्म्यस्य बहुशः श्रुतपूर्वत्वात् दृष्टचरचितमेतत् । श्रीकृष्णमाहात्म्यस्य बहुशः श्रुतपूर्वत्वात् दृष्टचर-त्वाच्च भवता कृष्णे एवं विधे बिस्मयो न कार्यः । कीदृशे भगवति अचिन्त्यैश्वर्ये स्वैश्वर्य्येण संसारहेतुनपि कामक्रोधादीन् गुणप्रवाहोपरमहेतुन् बिधातुं समर्थे तदुक्तं श्रीमुखेन "न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते । भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते" इति,अनुभवाननुभवे यदि चेत्त्वया बिस्मयः क्रियते तदा ह्यन्योपि करिष्यति अनुभवाननुभवादेवेति, पुनः कीदृशे अजे यदि शुक्रशोणितसम्बन्धेन प्राकृतजीववत् श्रीकृष्णस्यापि जन्म भवेत्तदा विप्रतिपत्तिपूर्वकः प्रश्नः स्यात् तत्तु नास्तीत्याह यतो अजे प्राकृतजन्मरहिते देवक्यां बत्सलरसालम्बनभूतायां नित्यमातृत्वेन सिद्धायां जन्म स्वीक्रियत एव स्वेच्छया भक्तवात्सल्येनाविर्भवति । यशोदानन्दनेति देवकीनन्दनेति स्वरूपं अजत्वं धर्मः । वहिस्थाप्यतः प्रवेशघटनार्थमुक्तम । यथा बहिरानन्दपूर्णत्वेन स्थितिः तथाऽनन्दरूपे देवकीगर्भे प्रवेशोऽभिलाषिनेति अतोऽजे विस्मयो न कार्यम् । ननु देवकीनन्दने प्रसिद्धेऽजत्वं कथमिति चेत्तत्राह-योगेश्वरेश्वरे इति योगस्तु "अघटितघटनासामर्थ्यं" तेन योगबलेन भोगार्थमनेकानि शरीराणि कृत्वा भगवत्प्रसादलब्धसामर्थ्याः संतो योगिनः कायव्यूहेन भोगं भुंक्त्वा स्वाभिलाषितां गतिमाप्नुवन्ति । तेषां योगस्त्वागन्तुको धर्मः भगवत्यनागन्तुक इत्येतावानेब विशेषः । भगवांस्तु तद्धर्म्मविषिष्टोऽपि अन्येषां योगफलदाता योगमापद्यतस्तद्देहानामलौकिकत्वं संपादनेन नित्यमंडलप्रबेशे विस्मयो न कार्य इति । पुनः कीदृशे कृष्णे कृषिभूवाचक इत्याद्य-

र्थस्तु यौगिको रूढस्तु यशोदास्तनन्धये रूढिर्योगमपहरतीति न्यायात् । यशोदासम्बन्धेनैब ब्रजौकसस्सु स्नेहाधिक्यं सूचितं सर्वे सर्वेषु स्वसम्बन्धिषु स्निग्धो भबन्तीति प्रसिद्धिः, इयं लीला निर्दोषपूर्णगुणबिग्रहे कृता एतदनुभबायोग्येषु विस्मये बिद्यमानेऽपि भबता बिस्मयो न कार्य इति । एतत् सम्बन्धवैभबमाह-यतः श्रीकृष्णाद्धेतोः एतत्स्थावरादिकमपि बिमुच्यते । अयं भावः कोऽनुराजन्निन्द्रियबानिति । इन्द्रियबत्तेनाधिकारे सति यत्र भजनक्रिया दृश्यते तया चेदनर्थनिवृत्तिरिति सिद्धान्तस्य न काचिद्विप्रतिपत्तिः । यतो भजनक्रियायोग्ये स्थावरादिके भगबत्संवन्धमात्रेणाप्यनर्थनिवृत्तिः दृश्यते । दृष्टार्थकत्वेन तदा विस्मयो न कार्यः । यमलार्जुनादौ श्रीकृष्णसंवंधस्यानन्यथासिद्धत्वेन दृष्टचरत्वात् । श्रीमुखेनाप्युक्तं—"अहो अमी देवबरामरार्चितमिति" बहुशः श्रुतत्वाच्च श्रीशुकः स्वानुभूतं कथयित्वा राजानमपहृतविस्मयं कृतवानिति ॥१६॥

"ता दृष्ट्वान्तिकमायाता भगवान् ब्रजयोषितः।
अवदद् वदतां श्रेष्ठो वाचः पेशैर्विमोहयन् ॥१७॥

एवं प्रासङ्गिकं परिसमाप्य प्रस्तुतमाह ता इति, या बेणुनादमाधुर्येण तन्नाम्ना आहुता, दुहन्त इत्यादि गृहकर्म हित्वा शुश्रूषन्त्य इति धर्मं हित्वा अंजन्त्य इति दैहिकसंस्कारं हित्वा केबलं प्रेम्नैव संगताः ब्रजयोषित इत्यनेन पंच बिधानामागमनमुक्तं चातुरीबिशेषानभिज्ञाः अन्तिकं समीपमागताः चातुरीबिशेषेऽबहित्थया दूरतः स्थितिर्भबेत् तत्तु नास्तीति ससंभ्रमागमनेन जायते । किं च मोहितासु चातुरी-बिशेषो नोदेति, ता दृष्ट्वा अबदत् किमबदत् इत्यपेक्षायां मनश्चक्र इत्यत्र मानसलीलायां यच्चिंतितं पूर्वं तदधुना प्रोबाच किं कुर्वन्

बाचः पेशैर्विमोहयन् । बाग्विलासैः विशेषेण मोहं प्रापयन् पूर्वं बेणुनादेन मोहिता इदानीं भावपरिक्षार्थं "स्थूणानिखननन्या येन" तमेब भावं दृढीकरिष्यन् तावत् बचनेनैव स्वान्तिकमेव बिप्रलंभमुत्पाद्य 'मधुररसपरिपाटीं शिक्षयितुं रुक्षमुद्रया-स्वागतमित्याद्युवाच । ननु बेणुनादेनास्मानाहूयाधुना बचनेन निवर्त्तयतीति तासां भावपरीक्षार्थमेव यथार्थेन बचनेन बिप्रलंभमनसि कथं न भवेत्तत्राह बदतां वाग्मिनां शेषादीनां मध्ये श्रेष्ठः, तत्र हेतुगर्भं विशेषणमाह भगवान् बचनेन बिप्रलंभमुत्पाद्य रसैश्वर्येण परिपोषयितुमनेकासु एकेनैव विग्रहेण स्वविलासं संचारयितुं समर्थः। यद्वा बाचः पेशैः वहिर्धर्माबोधकैः भयप्रदर्शनेन निवर्त्तनपरैः रिरंसाप्रच्छादकैरंतस्तूद्दीपनबिभावप्रदर्शकैः मम धर्माद्यपेक्षापूर्वकं रसाधिकरणपोषकैः कपटपाटवदिग्धैरित्यर्थः, मनस्यन्यद् बचस्यन्यदिति विमोहनाभिप्रायः प्रहणशक्त्या प्रापयन्, यद्वा पेशैः निजांगसौष्ठवैर्विमोहयन् इति कर्त्तव्यता शून्या कुर्वन् अत एब तद्वपुषस्तेजःपुंजेन प्रताड़िताक्षित्वात् युगपत् समग्रमुखशोभाग्रहणाशक्त्या प्रथमं चरणारविन्दार्पितलोचनत्वाद् बाच अधो बदनाः, यद्वा मुखे रुक्षमुद्रामाकलप्य ताबत्किमपि बक्तुमपारयंतिः यद्वा अत्यावेशेनागमनवशात् स्वासाधिक्येन बाचः नमनादिताद्दग्व्यबहारमपि कर्त्तुमशक्नुवतीः, यद्वा दृष्टिं परिचित्य किं वदिष्यतीति अवाचो मौनमवलम्बमानाः अत्यवदन् ॥१७॥

श्रीभगवानुवाचः—

स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः।
व्रजस्यानामयं कच्चिद् ब्रूतागमनकारणम् ॥१८॥

ताबत्तासां भावपरिक्षार्थे स्वागतमित्यादि द बाक्यान्याह ।

व्रजे पंच विधा गोप्यः नित्यसिद्धाः उपासनासिद्धाः दंडकारण्यमुनिरूपाः श्रुतिरूपाः देवांगनाश्च क्रमशः पद्ययुग्मेन पृथग् यूथे मुख्या प्रत्याह तत्र नित्यसिद्धाः प्रति स्वागतमिति पद्य द्वयेन उपासनासिद्धाः प्रति मातर इति पद्य द्वयेन मुनिरूपाः प्रति तद्यातेति द्वाभ्यां श्रुतिरूपाः प्रति भर्तुः शुश्रूषणमिति द्वाभ्यां देवांगनाः प्रति अस्वर्ग्यमिति द्वाभ्यां एवं दश बाक्यानि भवन्ति । औदासीन्यमकामत्वं सापेक्षत्वं सकामता एकस्मिन्नेव बाक्ये तु तात्पर्य्यं हि चतुर्विधं आद्यद्वयेन भवति । विप्रलंभो तु तापकृत् अंत्यद्वयेन भवति। संभोगस्तापशांतिकृत् भो महाभागाः परमसौभाग्यबत्य वो युष्माकं स्वागतं प्रियं स्वस्मिन्नागतप्राप्तमेवातः परं कि प्रियं वो युष्माकं करवाणि पूर्णानां कृतेनालमित्यर्थः । किंचिदपर्याप्तं चेत्ताह्याज्ञापयंत्वित्यर्थः । आदरविशेषेणौदासीन्यं व्यञ्जितं, नास्माकं कामविशेषोऽस्ति भवतीनां प्रियाचरणमेव धर्म-विशेषप्राप्तिरिति अकामत्वं सूचितम् । यद्वा बास्तवोऽर्थः स्वयमेव हे महाभागाः महान् भागो भाग्यं यासां ताः, यद्वा महान् भागो भजनं यासां ताः, यद्वा महती चासौ भा प्रीतिस्तां गता इति। पत्यादित्यागेनागतानां मुखेषु प्रतिभाविशेषोदयात्। यतः प्रतिवंधमवगणय्यागता बो युष्माभिः स्वागतं स्वे स्वस्थाने रमणस्थाने आगतं बो युष्माकं किं प्रियं करबाणि बेणुनादश्रवणानन्तरमेबागता । एताद्दश्यां मच्चित्तानुबृत्तौ जातायां तत्समं नान्यत्पश्यामीत्यर्थः। रमणं प्रतीक्ष्यमानेनाऽपि स्थिते यत्समयेऽनंतरमेबागताः तत्सुष्ठुकृतं अतः परं यथेच्छं रमणं भविष्यतीति सूचितं अतः सापेक्षत्वं सकामत्वं सूचितम्। एवं तासामागमनमनुमोद्य संभ्रममालक्ष्याह ।व्रजस्येति व्रजस्य भवतीनां निबासस्थानस्यानामयं निरुपद्रवं मंगलमिति यावत्

किञ्चिदिति कोमलप्रश्ने सर्वस्य चेदुपद्रवोऽभविष्यत्तदा सर्वे वृद्धा युबानो बालाश्चागताऽनामयत्वे लज्जामालक्ष्य तामपनुदन्नाह । आगमनकारणं ब्रूत कथयत मम शक्यं चेत्तदा शान्ति विधास्ये नोचेत्तदा व्यावुध्य गमतामेति । अत्र मम कश्चित् स्वार्थो नास्ति कामोऽपि नास्ति व्यंजनया बास्तबमर्थमाह । ब्रजस्य सर्वस्य भबतीनां पतिपुत्रादेरनामयमारोग्यं उपद्रबकत्वाभावो वर्त्तते कश्चिदिति संदेहपूर्वकप्रश्ने मया चातुरीबिशेषेण तथैव कृतं । यथा कश्चिदत्र नागमिष्यतीति । शंका चेत्कथयत संकोचेनाकथयंती प्रत्याह आगमनकारणमागमने कारणमभीष्टविशेषं ब्रूत येन रमणाभिलाषेणागताः तत्सर्वं मुखेन कथयत तदहं सर्वमेब संपादयिष्ये । यद्वा अनामयप्रश्नेन बानुरागेन तूष्णींभावस्थित्या मुखप्रसत्या च उपद्रबाभावमाकलय्याह । आगमनकारणमागमने स्थितौ यत् कं सुखं तस्यारणं शरणमाश्रयस्तं मां प्रति ब्रूत, यद्वा आगमनेन स्थित्या यत्कं सुखं तत्रारणं आश्रयः स्थलमिति ताबत् तद्ब्रूत, बने बा पुलिने वा जले वा बिहरिष्यथेति कथयत तथैब संपादयिष्ये व्यंजनावृत्या तन्मनोरथपूर्णं प्रतिश्रुतीत्यर्थः । सापेक्षत्वसकामत्वे दर्शिते ।१८॥

"रजन्येषा घोररूपा घोर सत्त्वनिषेवता ।
"प्रतियात ब्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः ॥१९॥

घोररूपा घोरं भयंकरं रूपं यस्या तामसभावत्वात् । घोरै भयंकरैः हिंस्रैरित्यर्थः । तैः सत्वैः प्राणिभि र्बलिभिः निषेविता, अतो ब्रजं प्रतियात गच्छत, स्वयमेव समाधत्ते इह बने स्त्रीभिः न स्थेयं सामान्यतो भीरुस्वभावाभिरपि किं पुनर्युबतीभिर्भबतीभिस्तत्र साभिप्रायं संबोधयन्नाह हे सुमध्यमाः

कृशोदर्य्यः दिनेऽप्यत्रावस्थानं नोचितं भबतीनां किं पुनः रात्राविति, किं च युष्माकमागमनं दृष्ट्वा ममाप्येषा रजनी घोररूपा जाता युष्मत्संगतं मां यदि कश्चित्पश्येत्तदा को बेद किं स्यादिति । बिजने बने निःकामस्योदासीनस्यैवस्थिति रुचिता न तु सकामस्य कृशांगीनां भवतीनां ससाहसागमनं दृष्ट्वा एषा रजन्यपि रंजनकर्त्र्यपि मम घोररूपा जाता । यूथशो मिलितानां भवतीनां सांत्वनस्याशमत्वात्, अतो निःकामस्योदासीनस्य मम भवतीभिः सह रहसि स्थितिरुचिता न भवति । निःकामत्वमुदासीनत्वं च सूचितं । सुमध्यमा इतिपदेनेदं लभ्यते । घोरसत्वनिषेवितापि सुन्दरीभिः निषेवितेति चित्रं विरोधलक्षणं या सापेक्षसकामत्वे सूचयन् रात्रेरेवोद्दीपनबिभावत्वमाह–एषा परिदृश्यमाना रजनी रंजयतीति रजनी सकामानोचितमिति । कीदृशी अकारप्रश्लेषेणाघोररूपा चन्द्रकिरणैर्दिवैव प्रकाश्यमानत्वात् । यद्वा मादृशानामघोररूपापि युष्मत्पत्यादिनां घोररूपैव प्रतीयते यतः कोऽप्यत्र नायास्यतीति निशंकं विहरतेति द्योतितं, किं च घोरैः स्वरूपेण भयंकरैः स्वभाबेन शांतैः सत्वैः प्राणिभिः निषेविता, तदुक्तमत्रैव "यत्र नैसर्गदुर्वैराः सहासन् मृगादय" इति । इत्यनेन रमणप्रतिवंधकप्राणिराहित्यं सूचितमिति । यद्वा अघोरैः सत्वैः पारावतान्यभृत्सारसशुकसारिकादिभिः निषेवितेति उद्दीपनबिभावप्रदर्शनं, यद्वा अघोरैः सत्वैः शांतिदं कामतापनिवर्तकं सत्वं वलं यस्य तेन परकामिना मादृशेन निषेविता, यद्वा घोरैः राजसैः सत्वैर्युष्मत्सदृशैर्महासाहसिकैः निषेविता, अतो ब्रजं न प्रतियात, कुत्र स्थातव्यमिति चेत्तत्राह इह रहसि स्त्रीभिः स्थेयं किं पुनः परमविदग्धाभिर्भबतीभिरियत् व्यंजनया रमणं द्योतितं स्वस्य कामत्वसापेक्षत्वे सूचिते ॥१९॥

"मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च वः ।
विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तो मा कुढ्वं बन्धुसाध्वसम् ॥२०

उपासनासिद्धाः यूथमुख्याः प्रत्याह मातर इति । ऊढाः मातृगृहे स्थितास्तत्स्नेहपरवशाऽपि वेणुनादमाधुर्येण कृष्टाः प्रति-बदति मातरो युष्मान् विचिन्वन्ति स्नेहबिशेषात् गृहेष्वपश्यं-त्यो बनेष्यायास्यंति। तदा रसभंगो भविष्यति, तासां बनेषु परिभ्रमणाशक्तिमालक्ष्य कुलकलंकभीत्या पितरोऽपि इतस्ततो विचिन्वन्ति व्यूढापि भर्तृगृहगमनाभावात् विचिन्वन्तोऽपि कुत्रापि भबतीरप्राप्य बनेऽप्यायस्यान्ति तदा महाननर्थो भविता। प्रौढाः प्रत्याह मातुरुपेक्षणमाकलय्य पुत्रा बिचिन्वन्ति तेषां परि-भ्रमणवैफल्यमालक्ष्य भ्रातरो विचिन्वन्ति, भ्रातृगेहादागताः पतीनां गृहेषु स्थितास्तत एवागताः प्रति बदति पतयो भवंतीः बिचिन्वन्ति पत्नीपापानि भर्तारीति कलंकभियो च सर्बत्रा-न्वेष्यन्ति। अन्येषामागमनं कदाचित्कं पतीनामागमनं त्वाव-श्यकं संभावितमिति अतोऽत्रागत्य मन्निकटे भबतीर्दृष्टा व्रज-राजपार्श्वे गत्वा यदि निबेदयेयुस्तदा मम महती लज्जा भवेत्। तदा च युष्मास्वपि कोऽपि विस्रम्भं न करिष्यति युष्मद्धेतु-दुष्कीर्तेर्मम भयं यद्धेतुकं कुलकलंकाद्भवतीनां भयमिति, अतो मम युष्माकं च क्षेमाय बनेऽवस्थानमसांप्रतमेव, अतो बन्धूनां साध्वसं भयं कुत्र गता इति मा कुढ्वं मा कुरुत भयमबिगणय्य भवतीनामत्राबस्थानेनोदासीनस्याकामस्य च मम किं प्रयोजना-भावात् । अयं शब्दोत्थोऽर्थः सापेक्षत्वसकामत्वपक्षेऽर्थोत्थम-र्थममाह-युष्माकं मात्रादयो बिचिन्वन्ति अन्वेषयन्ति, बाग्भंग्या श्लेषार्थं प्राह बिचिन्वंतु किं तेषामन्वेषणेन मया तु तादृशानु-संधानस्य कृतत्वात् यथा युष्मन् मात्रादयः पश्यन्तोऽप्रि अंधा

इब परिभ्रमिस्यन्ति अत्र नायास्यन्ति यतो भीतिसहिता रतिर्न सुखप्रदा अतो निर्भयाः सत्यो मया सह विहरतेति सूचितं अन्यथा ममौदासीन्ये मात्रादयोऽत्रागता भवेयुः तस्मादर्थोत्थ-मुक्त इति ॥२०॥

"दृष्टं वनं कुसुमितं राकेशकररञ्जितम् ।
यमुनानिललीलैजत्तरुपल्लवशोभितम् ॥२१॥

शब्दोत्थार्थप्रतीत्या बास्तबमर्थमजानतीः कुद्धाधो दृष्टिप्र-सरणेनान्यतो विलोकयन्तीः किंचित्संरम्भक्षुभितदृष्टीः प्रत्या-ह दृष्टमिति अतिमुद्रामाकलय्येषत्प्रणयकोपेनेतस्ततो विलोक-मानाः दृष्ट्वाऽन्यथोप्रेक्षणं निवार्य नूनं गृहेषु पत्यादिशुश्रू-षया व्याकुलत्वेन दुःखमनुभूय बृन्दाबनावलोकनौत्सुक्यतया ऽऽगता एव तर्हि क्षणं वनदर्शनेन हृदयं निर्वापयन्तु इत्याह तीर्यक् प्रेक्षणेन बनदर्शनं संभाव्याह निर्धारितमिवार्थं बदति। बनं दृष्टं तच्च कुसुमितं शोभातिशयोक्तिः सूचिता, उद्ध्वबिलो-कन-मन्मथोत्प्रेक्ष्याह राकेशकररञ्जितमिति । कालिंदीप्रदेश-स्थवृक्षखंडेषु प्रसरंती दृष्टी रन्यथोत्प्रेक्षमाणमाह -यमुनेति यमुनासम्वासिनोऽनिलस्य लीलाऽनायासकृतिस्तया एजत् कम्प-मानास्तरुपल्लबास्तैः शोभितं, वृक्षाऽपि भवतीमत्रावस्थानमनु-चितं मन्यमाना अंगुलितुल्यैः पल्लवैरेव निबारयन्ति बनदर्शन-बिषयिनी उत्कंठोपसंपन्नैबातः परं गृहे यातेति बननिरीक्षणा-यागता भवतीरत्राबस्थापयतो ममोदासीनस्यानौचितीयमिति। सापेक्षत्वपक्षेऽर्थस्तु-स एबाभिप्रायस्त्वन्य एब रमणार्थं चेदा-गतास्तर्हि उद्दीपनबिभावं पश्यतेत्याह-दृष्टमिति, बनं दृष्टं काक्का प्रश्नः बनं बिशिनष्टि कुसुमितं भबतीनामागमनं दृष्ट्वा बनस्यापि भावबिशेषेण रोमांचतत्वमिव जातं किं पुनर्ममेति भावः।

अनेनाग्रे करिष्यमाणमाकल्प-शय्याव्यंजनादिरचनं सूचित-मिति। पुनं कीदृशं राकेशस्य करैः किरणैः रञ्जितं चन्द्रस्यापि अस्मद्रमणानुकूल्यं दर्शितं करैः हस्तैः हि माइवेन कान्ति-विशेषयोजितमनेन बनस्योज्वलत्वं तमोनाशकत्वं सूचितम्, पुनः कीदृशं यमुनासम्बन्धिनोऽनिलस्य लीला तया संचलनं तेन एजत् कंपमाना तरुणां पल्लबानि धुबने करधूननमिब शिक्ष-यंतः, यद्वा ईदृशं सुखं नान्यत्रास्तीति गतागतैः दर्शयंत इव बनैः पल्लवैः शोभितमनेन शरदर्तुः शैत्येन च युष्मदागमनेन मत्सम्बन्धेन च वृक्षेष्वपि सात्विकभाबः सूचितः ईदृशं सर्ब-सद्गुणविशिष्टं बनं दृष्टमेवातो ब्रजे गमनमयुक्तमिति तात्पर्यार्थः ॥२१॥

"तद्यात मा चिरं गोष्ठं शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः ।
क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च तान् पाययत दुह्यत ॥२२॥

इदानीं मुनिरूपाः यूथमुख्याः प्रति पद्यद्वयेनाह-तद्यातेति, बनदर्शनेन मनोरथपूर्त्तिश्च ज्ञाता तर्हि गोष्ठं ब्रजं यात, ननु ब्रजं त्यक्त्वैवायाताः पुनस्तत्रैब गमनेन किं प्रयोजनमिति चेत्त-त्राह ब्रजे धर्मार्थ-काम-लाभो भबिष्यतीति उपदिशन्नाह-हे सतीः सत्यः पतिशुश्रूषणं त्यक्त्वाऽऽयाता अतो धर्महानिर्जाता धर्ममूला काम प्राप्तिः, धर्मे नष्टे कामहानिरपि जाता दुग्ध-हान्यार्थनाशोऽपि जातः स्तनंधयत्यागेनोपलालनादिसुखनाशो-ऽपि जातः, एतच्चतुष्टयप्राप्त्यर्थं ब्रजं यात। माचिरं विलंबो न कार्यः। यास्तु पतीन् त्यक्त्वागतास्ता यूयं पतीन् शुश्रूषध्वं यास्तु दोहं हित्वागतास्तासां बत्सा बद्धा एब क्रंदन्ति, यासां स्तनंधया अतृप्ताः क्रन्दन्ति तान् दुह्यत दोहयतेत्यर्थः। अतृप्ताः बालाः क्रन्दन्ति तान् स्तनं पाययत। उदासीनस्य मम निकटे

स्थित्या धर्मादिहानिर्भविष्यति तत्र गतानां सर्वं संपत्स्यत इति रहस्योपदेशः स्वस्य सापेक्षत्वं, पक्षे व्यंग्यार्थमाह-हे सतीः सत्यः मुख्यपत्यौ स्निग्धत्वान् पारिभाषिकपतिं त्यक्त्वाऽऽगतत्वाच्च एतासां साध्वीत्वं ज्ञातं पूर्वं नर्मणा निषेधमुक्तं। इदानीं वास्त-बमर्थमाह। ततस्तमाचिरं बहुकालपर्यन्तं गोष्ठं मा यात किं तु मया सहात्रैव रमध्वं, यद्वा चिरं बहु-कालपर्यन्तं मामायात प्राप्नुवत, यद्वाऽचिरं शीघ्रं गोष्ठं ब्रजं मा यात गमने दोषस्य बहुशोऽनुभूतत्वान् रात्र्यादिदुःखमनुभूयागतत्वात्। अन्यथा दुःखं तदवश्यमेव भबिष्यति। यदि पत्यादीनां संकोचः तदा पूर्णं रमणं विधाय रात्रिशेषे यास्यथ मा शब्दस्य सर्वत्रा-न्वयः। पतीन् मा शुश्रूषध्वं मद्रूपणे तेषां बहुशः प्रातिकू-ल्यानुभबस्य सिद्धत्वात् ननु क्रन्दन्तो बत्सान् बालान्स्त्य-क्त्वाऽऽगताः अतः तत्स्मरणे रमणस्य बिकलत्वं भविष्यतीति चेत्त्राह-वत्सा बालाश्च न क्रन्दन्ति तदर्थस्यान्यथासिद्धत्वात्। गोपैरेब गोदोहनस्य कृतत्वात् पयसोपि तदपेक्षितत्वाच्च, तच्चिन्ता न कार्या बालानां सांत्वनस्य वृद्ध-धात्री-प्रभृतिभिरेव कृतत्वात्। अतस्तच्चिन्ता न कार्या स्पष्टार्थमाह-तान् बालान् पयो मा पाय-यत, बत्सान् मा दुह्यत मा दोहयत तस्यार्थस्य स्वत एब सिद्धत्वात्। अतो निशंकं मया सह रमतेत्यर्थः ।२२॥

"अथवा मदभिस्नेहाद् भवन्त्यो यन्त्रिताशयाः ।
आगता ह्युपपन्नं वः प्रीयन्ते मयि जन्तवः ॥२६॥

ननु पत्यादि-स्नेहत्यागपूर्वकं त्वय्यनुरक्तत्वात् त्वां सेवितुमागता-स्त्वंतु कथमस्मान्निबर्तयसीति यथाश्रुतार्थग्रहणेन संरंभेण रुक्ष-मुद्रामबलंबमानाः प्रत्याह। जन्तुमात्रसाधारण्यनिदर्शनेन स्व-स्यौदासीन्यमाबिष्करोति अथ चेति, ननु कथमस्मान्नत्राहूय

पक्षांतरं । मदभिस्नेहा-
बिडम्बयसीति चेत्तत्राह । अथ चेति दत्रागता भवन्त्य इति गोरवोक्तिः मयि योऽभितः स्नेहस्त-
स्मात् पत्यादिषु यः स्नेहस्तस्मादाकृष्य मय्यर्पितत्वात् अत
एव यंत्रिताशयाः बशीकृतचित्ता अतः परमसाध्वीत्वात् न तु
रमणार्थमागता अथबा एवं वो मत् मन्निमित्तमभि निशंकं
यथा तथा स्नेहाद्वाऽऽगता यत अयंत्रिताशया अस्वा-
धीनचित्ताः सत्यः, अत एव चित्तानियमनमुपपादयति चित्ता-
नियमने कृते सति परपुरुषे मयि भावबिशेषमुदयेन सतीत्व-
भंगो न भविष्यतीति भावः । पूर्वं मनसोऽनियमने यज्जातमेवा-
धुना मदभि मम सम्मुखमागता स्नेहात् यंत्रितो बद्ध आश-
यश्चित्तं यासां ता तत् बो युष्माकमुपपन्नं युक्तमेब जातं, यतः
केनापि न प्रतिबद्धाः, यद्वा बो युष्माकमपि उपपन्नं युक्तमेब
यस्य यस्मिन् प्रेम-बिशेषस्तदन्तिके तस्य गमनमयुक्तं न भव-
तीति । स्वस्याकामत्वं व्यञ्जयति यतो मयि जन्तबः प्राणि-
मात्राः प्रियन्ते प्रीतिं कुर्वन्ति । ननु तेषु मया अङ्गसङ्गं क्रियते
प्रयोजनाभाबात् मम ब्रह्मचर्य्यं भवतीभिः श्रुतपूर्वमेबातो
व्यावुध्य यातेतिशब्दोत्थोऽर्थः । इदानीमर्थोत्थमर्थमाह—अथबा
तद्यातेति पूर्वश्लोकोक्तव्रजगमननिषेधमवुद्धा क्षुभितदृष्टी सांत्व-
यन्सापेक्षत्वं व्यंजयन् बने रमणं द्रढयति, पद्यार्थस्तु एब
भाबार्थो भिन्न एब मम अभि भयरहितः स्नेहप्रसूताख्यश्च-
तुर्थो रत्याख्यो भावस्तस्मात्तं प्राप्येत्यर्थः, यंत्रिताशयाः मयैब
यंत्रितो निरुद्ध आशयश्चित्तं यासां ताः चित्ते निरुद्धे स्वत
एवागताः, मम चित्तेन भवतीनां चित्तमाश्लिष्टं "क्षीरनीर-
बत्" केबलं शरीरमात्रमनाश्लिष्टम् । तदिदानीं रमणं सर्वं
सेत्स्यतीति भावः । यस्मादागतास्तदुपपन्नं, बो युष्माभिरु-
चितं कृतमिति । मनश्चक्र इति रमणं पूर्वं चिंतनमेबागमनमात्रं

प्रतीक्ष्यमाणेन मया स्थितं तत्संपन्नं अतो यावदाकाङ्क्षं रमणं
भविष्यतीति भावः युक्तार्थत्वे कैमुत्यन्यायेनाह—यतो जन्तवः
प्राणीमात्राः मम प्रीयन्ते मद्विषयां प्रीतिं कुर्वन्ति किमुत
मत्प्रेम-रत्नमंजूषा भवत्य इति, तदुक्तं "को नु राजन्निन्द्रिय-
वानिति" । प्रीतौ इन्द्रियबत्वमात्रमेवधिकारिविशेषणमिति ॥२३

"भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया ।
तद्बन्धूनां च कल्याण्यः प्रजानां चानुपोषणम् ॥२४॥

इदानीं श्रुतिरूपा यूथमुख्याः प्रति भाव-जिज्ञासार्थं धर्मं निरू-
पणमाह—बृहद्वामनपुराणे भृगुं प्रति ब्रह्म—बाक्यं–"न स्त्रियो
ब्रजसुन्दर्यः पुत्र ताः श्रुतयः किल । नाहं नेन चानन्तो न च
श्रीस्तत्समा क्वचित्" इति । भर्तुरिति भर्तुः पोषणकर्तुर्लौ-
किकस्य पत्युः शुश्रूषणं प्रजानां पुत्रकन्यादासदासीनां तदनु
यथोचितं शुश्रूषणं धर्मः । हे कल्याण्यः मंगलरूपा अहं तु
लौकिकपतिर्न भवामि, स्त्रीणां ये देवताराधनादयो धर्मोक्ता-
स्तदपेक्षया पतिशुश्रूषणस्य धर्मस्योत्कृष्टत्वं न तु भगवद्धर्मा-
पेक्षयोत्कृष्टत्वं अतो निरपेक्षस्योदासीनस्य च मम भजनेन तद-
सिद्धेः; वास्तबमर्थमाह भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां साधारण-
स्त्रीणामेव परः श्रेष्ठो धर्मो न तु मत्प्रियाणां भवतीनां, हे
कल्याण्यः शुभरूपाः भवतीनां मदाराधनमेव परमो धर्मः ।
यस्त्वलौकिको भर्त्ता स्मपोषणकर्त्ता अहमेव । लौकिकपत्यादीनां
शुश्रूषणस्य परमधर्मत्वाभावात् अतस्तेष्वनिष्टनिबारणसामर्थ्या-
भावाद्भर्तृत्वं तद्बंधूनां बंधुत्वं पारिभाषिकमेब तदुक्तमत्रैव—"गुरुर्न
स स्यात् स्वजनो न स स्यात् पिता न स स्याज्जननी न सा
स्यात् । दैवं न तत्स्यान्न पतिश्च स स्यान्न मोचयेद्यः समुपेत-
मृत्युम्" इति । तस्मान्मच्छुश्रूषणं परो धर्मः तद्बंधुनां तस्य

मम बान्धवो मत्सहचरा:, यद्वा मम बान्धवो वैष्णवास्तेषामपि शुश्रूषणे पर्यबसति तदुक्तं "साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम। मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि"। यद्वा भर्त्तु: पालकस्य मम शुश्रूषणं प्रियाचरणं रमणमिति यावत् स्त्रीणां मत्प्रियाणां भवतीनां अमायया अप्रतारणेन चेद्भवति तर्हि परो धर्मः प्राकृतस्य भर्तु: शुश्रूषणं स्त्रीणां भवतीनां अमायया अकृपया स्नेहाभावेन चेद्भवति तदा परो धर्मः स्यात्कृपादंभयो मर्यैति बिश्व:, स्नेहस्य मयि निर्बन्धत्वात् तदुक्तं-"विषयाविष्टचित्तानां कृष्णाबेशः सुदूरत:। वारुणीदीग्गतं बस्तु ब्रजन्नैंद्रीं किमाप्नुयादिति"। किं च "त्यक्त्वा स्वधर्ममित्युक्तेन" स्वधर्म त्यागेन मच्छुश्रूषणं स्वधर्मत्वं यदा स्वीक्रियते तदा अधर्म त्यागेन मदाराधनस्य को वा धर्मत्वं स्वीकुर्यात् । न ह्यधर्म-त्यागेन धर्मो भबति केनाप्यभ्युपगतं शक्यत। ननु लोकप्रतीत्या पत्यादि शुश्रूषणस्य धर्मत्वं श्रूयते सत्यं तथापि स्वधर्म त्याग-पूर्वक-मद्भजनस्य परमधर्मत्वं प्रसिद्धे: तदुक्तं गीतायाम "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज" इति मयैबोक्तत्वात्। यत: पत्यादिषु स्नेहस्य त्यक्तात् त्यागदर्शनलिंगेन तस्मान्मच्छुश्रूषणमेब भबतीनां मुख्यो धर्म:, यद्वा तद्बन्धूनां तस्य मम बन्धूनां मत्सहचरीणां सखीनां शुश्रूषणं आनुकूल्येनानुरञ्जनं तदनुप्रजानामप्यनुरक्तानां दासीनां मनोऽनुरञ्जनं भबतीनां परमो धर्म इति। किं च मच्छुश्रूषणस्य त्यागेनेतरधर्माचरणस्य कुत्राप्यश्रूयमाणत्वात् अत: सापेक्षेऽपि रमणानुकूलव्यापारकर्त्रीभिर्भाव्यमिति अर्थोत्थार्थ इति ॥२४

"दु:शीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा ।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी ॥२५॥

आत्म-शुश्रूषणं त्याजयित्वा पत्यादि-शुश्रूषणमुपदिशति शाब्दप्रतीत्या मन्यमाना पित्ताक्रांत: रसनायां सितां त्याजयित्वा कणप्रयोगं कुर्वन्निवेति किमस्मान् क्षारमिवापर्यन् दु:खी करोतीति बीक्षमाणा: प्रति आत्मशुश्रूषणं द्रढ़यितुं पुनरपि तमेव धर्म कथयति फलादर्शनात् वृद्ध: बय: परिणामवान, कर्मकर्णैसिथिल: मूढत्वात् रोगी राजरोगाक्रांत: पूर्वजन्मनि महापातकीत्वात् "ब्रह्महा क्षयरोगादिति" स्मृते:, अधन: दरिद्र: निजोदरभरणेऽप्यपर्याप्तत्वात् , षट्-दोषयुक्तोपि पतिश्चेत्पालकश्चेत् तदा स्त्रीभिरन्याभि: लौकिकीभिर्न त्याज्यस्तेन स्वत एव त्यक्ताभिरपि अपि शब्द: यतो लोकेप्सुभि: लोकद्वयमिच्छतीभि: इह लोके निंदाश्रवणात् परलोके नरकदु:खश्रवणाच्च महापातकसम्बन्धश्चेत्तदा त्याज्य एववेत्याह अपातकी चेत् न त्याज्य: पातकी त्याज्य: तथा: भबतीनां पतयस्तु नैवं बिधा: किं तु सुशीला: शुभगा स्तरूणा: कर्मकरणे दक्षा: अरोगा: बहु-गोधन धान्ययुक्तां भवतीषु सस्पृहा अपातकीनश्च ते कथं त्याज्या: एकस्यापि दोषस्य सद्भाबे सर्वथा उचितो नान्यथेति अन्यच्च सदा निरपेक्षे औदासीन्ययुक्ते प्यनुराग: नोचित इति भाव: । इदानीं बास्तबमर्थमाह-दु:शील इत्यादि षट्-दोषयुक्तोऽपि पति: स्त्रीभिर्साधु कुर्वतीभि र्भबतीभि र्न हातव्य: किमुताहं सुशीलत्वादि-गुणयुक्त:, अन्यै: षट-गुणै: युक्तत्वात मुख्यपतिरहमेवातिवृष्ट्यादि-भयनिवारणसमर्थत्वात् । युष्मत्सदृशीभिर्मत्सदृश: पतिर्न हातव्य: पातकीत्यस्यायमभिप्राय: । ब्रजे पापमात्रस्थायिसंभाबना नास्ति किमुत महापातकसंभव: सत्यां निषेध: संभबतीति । तदुक्तं "अवैष्णवनमस्कारादय-माना जनार्दने । वैष्णबेकलहाच्चैव, पतन्तीहन न संशय: ॥ ता बार्यमाणा इत्युक्त्वा कलहेन निबारणे जाते इति कलहात्पात-

संचारो जातः, मत्प्रवणवितानां निवारणात् मदीर्ष्याकुलसंचारो जातस्तस्मात् सर्वथा त्वात् ममाप्ययमानो महापातकसंचारो जातस्तस्मात् सर्वथा त्याज्या एवेति लोकेप्सुभिः लोक्यते प्रकाश्यते इति लोको रमणानन्दप्रकारस्तदिच्छुभिर्युष्माभिः निजाभीष्टप्रदः पतिरहं न हातव्यः किं तु दयालुना मयासह रमध्वमिति गूढोभिप्राय इति ॥२५॥

"अस्वर्ग्यमयशस्यं च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम् ।

जुगुप्सितं च सर्वत्र औपपत्यं कुलस्त्रियाः ॥२६॥

अधुना यूथमुख्यादेवीः प्रत्याह अस्वर्ग्यमिति, औपपत्यं उपपतिजनितं सुखं कुलस्त्रिया इति जाताबेकबचनं कुलस्त्रीणामन्यासामपि सर्वत्र जुगुप्सितं निंदितमिति। निन्दाभयमबगण्य्यागतानां निन्दा न किंचित्करोति चेत्तत्राह अस्वर्ग्यं स्वर्गप्राप्तिप्रतिवन्धकं यागादि जन्य पुण्य बिनाशकत्वात्। ननु स्वर्गापेक्षारहितानां किं स्वर्गसाधनेनेति चेत्तत्राह अयशस्यं दुःकीर्तिसंपादकं विगीताचरणात्तु "संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते" इति गीतोक्तेः। ननु केनाप्यलक्षितारागमनमत्र को वा ज्ञास्यतीति चेत्तत्राह फल्गु तुच्छं अल्पकालभोग्यत्वात् ननु भवतो यावदाकाङ्क्षथास्याम इति चेत्तत्राहकृच्छ्रं दुःखसाध्यं कंटकहिंस्रादिवल्याबृतप्रदेशात् ननु। वृन्दावनस्य सुखरूपत्वात् त्वया सह स्वेच्छारमणात् सुखमेव प्राप्स्याम इति चेत्तत्राह भयावहं इह लोके पत्यादिभयं तस्मिन् भये प्रतिकार्येऽपि राजभयं दुःपरिहरमिति। अमुत्र भयमप्रतीकार्यमेब भय-संवलितं-सुखेन रत्यादिकं भयानकस्य बलवत्वात भयमगणयंतीः प्रत्याह सवेत्र स्वदेशे परदेशे च जुगुप्सितं निन्दितं कुलकलंकावहत्वात्। तस्मात् कुलस्त्रीणां साध्वीनां

तत्परिहार्यमेवेति तदुक्तं। "अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्ममथाचरेन्न तु"। अयं भावः निरपेक्षस्योदासीनस्य ममाविगीतेऽपि बृत्ति र्नास्ति। विगीते रागभवस्य नित्यसिद्धत्वादिति। इदानीं बास्तबमर्थमाह औपपत्यं सर्वत्र सर्व देशेषु सर्वेषु पुरुषेष्वैव कुलस्त्रिणां जुगुप्सितं निन्दितं मम तु सर्वान्तरत्वान्मुख्यपत्युः संबन्धेनाविगीतमेब "विक्रीड़ितं ब्रजवधूभिरिति" अग्रे बक्ष्यमाणत्वात्। कीदृशं अस्वर्ग्यमिति, अन्येषामपि मद्भक्तानां स्वर्गे इच्छानुदयात किं पुनर्मत्प्रियाणामिति तदुक्तं "स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिन" इति भवंत्यस्तु पूर्वं देव्यः मत्संबद्धमौपपत्यं स्वर्गगतिप्रतिबंधकं जातमित्यर्थः। "एता परं तनुभृत" इति। "वंदे नन्द-ब्रजस्त्रीणां पादरेणुमिति" उद्धवादिभिस्तूयमानत्वात्। अत एव भवतीनां उत्तमाधिकारसंपादकमिति। फल्गु अल्पं कृच्छ्रं यत्र कंटकितप्रदेशोल्लंघनात् परिणामे बहु सुखप्रदत्वात् किं च भयावहं भयं न बहति प्रापयतीति, बेणुनादेन सर्वेषां मोहितत्वात्। अत्र कस्यापि भयमाकुरुत निःशङ्कं रमतेत्यर्थः। यद्वा कुलस्त्रीणां भवतीनां औपपत्यं पत्युर्मम समीपे यत्सुखं तदस्वर्ग्यं स्वर्गे न भवतीति। अत्रैव सुखं नास्त्यन्यत्रेति। पुनः कीदृक् अयशस्यं अयेन शुभदृष्टेन शस्यत्युत "अयः शुभावहो विधिरिति" कोशः। किं च फल्गु अत्यल्पं कृच्छ्रं दुःखं यत्र व्यभिचारिभावानां दुःखवत्प्रतीयमानत्वात्। भयावहं भयं कालभयं न बहति प्रापयतीति। सर्वदा निकटस्थितेः सर्वत्र मद्व्यतिरिक्तेषु पुरुषेषु युष्मद् व्यतिरिक्तानामन्यासां स्त्रीणामौपपत्यं युगुप्सितम्, औपपत्यं रसवृद्धिहेतुत्वान्मया स्वीकृतं अन्यत्र नरकहेतुत्वात् बक्ष्यति च "नैतत्समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः। बिनश्यत्याचरन्मौढ्याद्यथा रुद्रोऽब्धिजं बिषम्" इति। औपपत्यं रसबृद्धिहेतुत्वान्मया

स्वीकृतमित्यभिप्राय: ॥२६॥

“श्रवणाद् दर्शनाद् ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्तनात् ।
न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान् ॥२७॥

इदानीं पूर्वानुभूतं रमणसुखं स्मारयितुमौदासीन्यशिथिल्या
संश्लेषसुखाच्छ्रवणादिसुखस्योत्कर्षमाह श्रवणादिति । श्रवणं
नायकशिरोमणे: सद्गुणानां, दर्शनं लावण्यसारस्य श्रीविग्र-
हस्य यथा बर्हापीड़मित्या सादिनोक्तं, ध्यानं तत्तादंगविभा-
वनं, कीर्त्तनं मम जन्म-कर्म-गुणानां कथनं, एतत्समस्तं व्यस्तं
वा भावोत्पत्तौ प्रयोजकं कुत्रचिच्छ्रवणादेव भावोदय: यथा
रुक्मिण्यादे: य: “श्रुत्वा गुणानिति,” कुत्रचिद्दर्शनात् यथा
भौमगृहे “तं प्रविष्टं स्त्रियो वीक्ष्य नरवीरं विमोहिता: ।
मनसा वव्रिरेऽभीष्टं पतिं दैवोपसादितमिति” कुत्रचित्ध्यानात्
यथा देवहूते: “तदेव ध्यायती देवमपत्यं कपिलं हरिम् ।
बभूवाचरतो वत्सानिस्पृहा तादृशे गृहे,” । कुत्रचिदनुकीर्तनात्
यथा नारदस्य “प्रगायत: स्ववीर्याणि तीर्थपाद: प्रियश्रवा: ।
आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि,” एषां समुच्चयो
वा विकल्पो वा भावोदयहेतु: । अन्यतरसद्भावोऽपि भावोदय-
दर्शनामिति चेन्मयेतेषां सम फलत्वेऽपि श्रवणस्य सर्वत्रानुस्यू-
तत्वेनैतदेव मुख्यत्वम् । यद्यपि सन्निकर्षस्यापि हेतुत्वं श्रूयते
तथापि श्रवणादीनां यथाऽनन्यथा सिद्धत्वं तथैतस्य न तदुक्तम् ।
संनिकर्षोत्र मत्यानादरकारणमिति । दृढतरभावोत्पत्तौ हेतु-
त्वाभावात् अत्र तु सन्निकर्षोऽगसंग: तस्मिंश्च सति भावशै-
थिल्यदर्शनाच्च ततो हेतोर्गृहान् प्रतियातेति शब्दोत्थार्थेन
स्यौदासीन्यमकामत्वं च व्यंजितम् । इदानीमर्थोत्थार्थमाह
त्र बिधेयं किं भावो वा बिधेय: संनिकर्षो वा बिधेय:

तत्रोच्यते—भावस्यैव बिधेयत्वं तत्र श्रवणादि—चतुष्टयस्यै-
वानन्यथा सिद्धत्वेन हेतुत्वं श्रूयते संनिकर्षस्यान्यथा सिद्धत्वं
न तथा संनिकर्षेणेत्युक्ते: मधुररसस्य बिप्रलम्भसंभोगात्म-
कत्वात् । बिप्रलम्भे श्रवणादीनां भावसाधकत्वं निर्णीतमेव,
यत्र तु संनिकर्षस्यापि भावोदयं प्रति हेतुत्वं श्रूयते यथा
“कुररि बिलपसि त्वमित्यादौ” तन्न कदाचित्कत्वविवक्षयो-
क्तमिति । तस्माद्भावस्यैव बिधेयत्वं संनिकर्षस्य भावं प्रति न
हेतुत्वं न च पृथग्विधेयत्वमिति । नन्वेवं चेत्तदा सर्वथा सर्व-
दाङ्गसंगाभावे मधुररसस्य बिकलांगत्वं भवेत् । तस्य चोभ-
यात्मकत्वात् तस्मात्संनिकर्षेऽपि विधेयस्तथा सति वाक्यभेद:
स्यात् तस्मात् संनिकर्षस्योद्देश्यत्वं भावस्य विधेयत्वम् । संनि-
कर्षोऽत्र फलं न हि कुत्रापि फलस्य बिधेयत्वं श्रूयते । यथा
यागेन स्वर्गं भावयेत् इत्यत्र स्वर्गमुद्दिश्य यागस्य बिधेयत्वं
यागमुद्दिश्य माकपुरोडाशादिनिर्वपनस्य विधेयत्वं तथात्राऽपि
संनिकर्षमुद्दिश्य भावस्य विधेयत्वं भावमुद्दिश्य श्रवणादि चतुष्ट-
यस्य बिधेयत्वम् अत: सम्यगुक्तं न तथा संनिकर्षेणेति न
हि कुत्रापि केनाप्युद्दिश्य बिधेयत्वमभ्युपगम्यत इति पूर्वं श्रव-
णादिजन्यभावोदयेन संनिकर्षफलरूपो जात एव अत फलं
त्यक्त्वा गृहान्न प्रतियात नकारस्योभयत्राप्यन्वय: । यद्वा श्रव-
णादिहेतुचतुष्टयादपि संनिकर्षाभावे जाते सति तथापि भावो
न भवति । श्रवणादीनामनैकान्तिकत्वेन भावासिद्धस्तस्मि-
न्नसिद्धे सुखं कुत:, यद्वा श्रवणादेर्हेतोर्मयि जात एव तथानेन
प्रकारेण संनिकर्षे मत्समीपगृहान् बिलासस्थानानि वनपुलिन-
यमुनाजलादीनि, न प्रतियातेति न किंतु सातत्येन प्रतियात ।
तथा भवतीनां मनोरथपूर्त्तिर्भवेदिति तात्पर्यार्थ: । एवं स्व-
स्यौदासीन्यं परिहृत्य व्यंजनावृत्या गृहगमननिषेधपूर्वकं रमणार्थं

वै मध्ये स्थितिं दृढीकृत्वा अयमर्थोत्थ इति ॥२७॥

श्रीशुक उवाच—

इति विप्रियमाकर्ण्य गोप्यो गोबिन्दभाषितम् ।
विषण्णा भग्नसंकल्पाश्चिन्तामापुर्दुरत्ययाम् ॥२८॥

एवं श्रीकृष्णाभिप्रायमजानतीनां गोपीनां विरहतापतप्तानां हृद्वृत्तिमाकलय्य सर्वान् श्रावयित्वा शुको बदति पूर्वोक्तप्रकारं कथयति । प्रतियातेत्याग्रहेणोक्तेऽस्मत्परित्यागं करोतीत्यर्थे निर्धारिते सति पुनर्गृहगमनं बान्तत्वमिव मन्यमाना ब्रजेश्वरपुत्रत्वात् तद्वाक्यमनुल्लंघ्यमित्यपि मन्यमानाः प्रियकलंकभीत्या शरीरत्यागचिकीर्षा रहिताः स्वस्व-नामाङ्कितबेणुनादामृताह्वानस्मृत्या किंचिदाश्वस्ता "मयेमा रंस्यथ क्षपा" प्रतिश्रुतार्थस्मरणेन तदप्राप्ताः प्रियबिषये व्याकुला बनमध्ये प्रसह्यास्मत्स्थित्या श्रीकृष्णस्यान्यत्र गमनमाशंकमानाः अत्राहूय बिडंबयसीति प्रतिबचनमनुचितमिति मन्यमाना अभ्रंलिहे ज्वलने पतितमात्मानमीक्षमाणा इति कर्तव्यताशून्याः गोप्यः चातुर्यविशेषानभिज्ञाः, यद्वा स्वानुरागं परस्परमकथयन्त्यः, यद्वा रुक्षबाक्ये रसभंगं गोपयंत्यः, यद्वा तेन सह रसं क्षपयंत्यः । दुरत्ययां पर्य्यवसानरहितां चिन्तामापुः चिताप्राप्तौ हेतुमाह-गोबिन्दभाषितं गोकुलरक्षाबद्धव्रतो गोविन्दः "गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे ब्रत आहित" इति उक्तात्, यद्वा गाः ईन्द्रियाणि भोग्यत्वेन विंदतीति गोविन्दः, यद्वा गाः श्रुतिरुपनिषद्रूपा स्वपरिग्रहत्वेन विंदतीति गोविन्दः तस्य भाषितं बचनं बिप्रियं बिगतं प्रियं यस्मात् रुक्षोक्त्या बस्तुतस्तु विप्रियं विशिष्टं प्रियं यस्मिन् तात्पर्यवृत्या स्थापनस्यादृढीकृतत्वात् । इदानीं तात्पर्य्यावलोकनात् । अप्रियमेब ज्ञानं बलबदनिष्टानुबंधित्वात् । प्रियस्या-

स्मत्प्रेमबिषयस्याप्रियमाश्चर्यमिवाकर्ण्य विषण्णां विषादं प्राप्तास्तदनुरूपोत्तरं दातुमपारयंत्यः वा बागादीन्द्रियवृत्तीना तेनैव विरुद्धत्वात् मनसि जाड्यं प्राप्ते सति कर्तव्यताशून्यत्वात् मरण-निश्चयाभावादपि कुड्यादि सादृश्यं प्राप्ताः ।

तदुक्तं रसार्णवे—

प्रारब्ध-कार्यानिर्बाहादिष्टानाप्तेः बिपत्तितः ।
अपराधपरिज्ञानादनु तापस्तु यो भवेत् ॥
बिषादः स त्रिधा ज्येष्ठ-मध्य-नीच समाश्रयात् ।
सहायान्वेषणोपाय-चिताद्या ह्युत्तमे स्मृताः ॥
अनुत्साहश्च वैचित्यमित्याद्या मध्यमा स्मृताः ।
अधमस्यानु भाबा स्यु वैंबर्ण्यमवलोकनम् ॥
रौदनं स्वासितध्यानं मुखशोषादयोऽपि चेत् ॥

तत्र हेतुमद्विशेषणमाह-भग्नसंकल्पाः भग्नसंकल्पो मनोरथो यासांमताः ।

मनोरथमेबाह—

"गत्वा बृन्दावनं देशं कृष्णं द्रक्ष्यामहे किल ।
प्रियेण सह संलापस्त्वपांगेन समीक्षणम् ॥
आलिंगनं नखोल्लेखस्परश्चापि तथा बिधः ।
अधरामृतपानं च भोगो रोमोद्गमस्तथा ॥
स्वाभीष्टकथनं तत राघ्राणं चापि सर्वतः ।
तदन्तिकगतिनित्यमेवं तद्भावनं सदा" ॥

एतादृशस्य मनोरथस्य भग्नत्वात् चिन्तां प्रापुः । बरदानाबसरे नैवंविधो ज्ञातः अधुना अस्मद्दैववैमुख्यादप्रियोक्तिचतुरो जातः इदानीं ब्रजं प्रतिगमने कृते सति को बेद किं स्यादिति अत्र क्षणमपि स्थातुं न शक्यते । निषेधबाक्य-

दुरन्तां चिन्तां प्राबल्यात् कुत्र यामः किं बा करबामेति प्रापुरिति ॥२८॥

कृत्वा मुखान्यवशुचः श्वसनेन शुष्यद्
बिम्बाधराणि चरणेन भुवं लिखन्त्यः ।
अस्त्रैरुपात्तमषिभिः कुचकुङ्कुमानि
तस्थुर्मृजन्त्य उरुदुःखभरा स्म तूष्णीम् ॥२९॥

यथाश्रुतार्थग्रहणेन चिन्ताभिभूतानां बाह्याभ्यन्तरांस्थितिमाह तस्थुरिति। प्रतिबचनं कृत्वेति क्षणमात्रं तूष्णीं तस्थुः चिन्ताजन्यजाड्ये सति प्रतिबचनास्फूर्तेः। किं कृत्वा मुखानि अवाच कृत्वा श्रीकृष्णमुखे रूक्षतां दृष्ट्वा तत्र हेतुगर्भं बिशेषणमाह उरुर्महान् दुःखस्य भरो भारो यासां ताः, अन्योऽपि भाराक्रांतो मुखमवागेव करोति तद्वदिति शुचः शोकादुद्भूतेन श्वसनेनातीबोष्णेन शुष्यंति बिम्बफलसदृशान्यधराणि येषु मनसि दुःखभरेण तप्तेन सति श्वासबायोरपि तप्तत्वं जातं तेनाधराणामारुण्यकोमलत्बे शोषिते व्यभिचारिभाबानामयमेब स्वभाब इति दैन्यं सूचितमिति। चरणेन लक्षणेन पादाङ्गुष्ठनखेन भुवं लिखंत्यः बिबरप्रबेशमिबाभिकाङ्क्षंत्यः, यद्वा भूरपि बराहभोग्यतां प्रत्युपालंभसि पत्युरौदासीन्येन यद्दुःखं भवति तत् त्वमपि न जानासि किमित्यस्मत्प्रबेशाय स्थानं न ददासीत्यभिप्रायेण भूमेः उल्लिखनं, यद्वा भर्त्तुरौदासीन्येन दुःखभराक्रान्ताया सीतादेव्याः यथा स्थानं दत्तवती तथैवास्मभ्यं स्थानं दातुमर्हसीति। कीदृश्य उपात्तमषिभिः उपात्ता गृहीता मषि कज्जलं यैस्तैरस्रैः कुचकुङ्कुमानि मृजन्त्यः क्षालयंत्यः श्रीकृष्णोपेक्षितानां कज्जलेन कुचकुङ्कुमेनालमितिभावः। अनेन वैबर्ण्यस्तम्भादयो व्यभिचा-

रिणो भावा ज्ञेया इति। किं च उरु दुःखभरा इत्यान्तरमूर्छादयो ज्ञेया इति। तूष्णीं तस्थुरित्यनेनानुत्साहवैचित्ये दर्शिते ॥२९॥

"प्रेष्ठं प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणं,
कृष्णं तदर्थविनिवर्त्तितसर्वकामाः ।
नेत्रे विमृज्य रुदितोपहते स्म किञ्चित्-
संरम्भगद्गदगिरोऽब्रुवतानुरक्ताः ॥३०॥

व्यभिचारिभावोदये विप्रियकथनमेव हेतु उक्तः, इदानीं स्थायिभाबस्य दृढत्वात् किंचिल्लब्धस्वासाः कोपावेशस्फुरदधराः सत्यो वागारम्भं कृतबत्य इत्याह प्रेष्ठमिति। प्रेष्ठं अतिप्रियमपि प्रियेतरमिवाप्रियमिब न त्वप्रियं तासां भावपरीक्षया न तु हृद्वृत्त्या स्थूणानिखननन्यायेन तमेबभावं द्रढीकर्तुं प्रतिभाषमाणं प्रतीचक्षाणमपि प्रीतिविषयस्थायिभावस्य दृढत्वात् व्यावुध्य गृहं गंतुमपारतन्त्यः कृष्णं यशोदानन्दनं सदानन्दं न तु कृषिभूर्बाच इत्यर्थगोचरं रूढीर्योगमपहरतीति न्यायात् कृष्णशब्दस्य यशोदानन्दने रूढत्वात्। ब्रजेश्वरीप्रोषितत्वात् सर्वासां मनोरथपूर्त्तौ समर्थं धीरलालित्यगुणैर्युक्तम्। लक्षणं रसार्णवे—"पितृभ्यां गमितोऽत्यन्तं नैश्चिन्त्यं प्रेयसीप्रियः। बिदग्धो नवतारुण्यो धीरलालित्यधर्मभाक्॥ स्वरूपमेतदाख्यातं गुणाः सर्वे गुणा मता"। ननु प्रत्याख्याने जाते कथं गृहं न गतास्तत्राह तदर्थबिनिवर्त्तितसर्वे कामा स एबार्थः पुरुषार्थस्तत्प्राप्तये बिनिवर्त्तितास्त्यक्ता सर्वे कामा ऐहिकामुष्मिका बिषया याभिस्ताः पूर्वानुभूतरमणानन्दस्फूर्त्या तेषामाच्छादितान्नवद्भासमानत्वात् "एतस्यैबानन्दस्यान्यानि

भूतानि मात्रामुपजीवन्तीति" श्रुते अनन्यगतित्वात् तत्रैव-स्थिताः कथंचिद्धैर्य्यमवलम्ब्य पूर्वं दुःखभराक्रांतत्वाद्वाकुस्तंभो जातः, इदानीमपीषत्कारुण्येन संकुचितां दृष्टिमालक्ष्याभ्र बन् प्रत्युत्तरं दत्तावत्यः यतोऽनुरक्ताः दृढतरानुरागेण नायकदोषा-स्फूर्तेरितिभावः। किं कृत्वा रुदितोपहते नेत्रे बिमृज्य औत्सु-क्येन समग्रलावण्यदर्शनप्रतिबन्धकत्वादश्रुमार्ज्जनं कृतेत्यर्थः। तत्रश्चानुरागभरगर्वितत्वात्प्रत्याख्यानस्मृत्या किंचित्संरंभ गद्गद-गिरा ईषत्प्रणयकोपेन गद्गदा अस्फुटा यासां ताः। न तु निर्विण्णा जाता इति भावः ॥३०॥

गोप्य ऊचुः—

मैवं बिभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं,
सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्,
देवो यथाऽऽदिपुरुषो भजते मुमुक्षून् ॥३१॥

इदानीं श्रीकृष्णस्य रूक्षमुद्रास्थित्या संश्लेषसुखमलभमानाः क्षणमपि नेतुमपारयंत्य उपालम्भरीत्या बदंत्यो मानमपि कर्तु-मजानंत्यो अतिबार्ताः सत्यः प्रत्युत्तरमूचुः" मैवमिति। हे विभो ब्रजेन्द्रसुतत्वादस्मदुपेक्षाऽनुचितेत्यर्थः। भवान् भव-च्छब्दः पूज्यार्थः एव स्वागतं व इति गौरवेण गदितं नार्हति यत् इयमुक्तिः स्वागतं केष्वतिथिष्वेवोचिता नास्मासु। ननु मया स्वागतप्रश्नेनादर एव कृत इति चेत्त्राह नृशंशं क्रूरं परिणामदुःखजनकत्वात् मधुविषसंयुक्तान्नवत्। गदितमित्यस्या-यमभिप्रायः गद व्यक्तायां बाची धातुः मनसापि विचारयितुं किं पुनर्गदितुं रसपाकानभिज्ञा एवानर्हो भवान् परमरसज्ञः

हे विभो! मधुररसपरिपाटीमस्मान् विशेषेण शिक्षयितुं समर्थः, न तु येन रसेन भवताऽऽकृष्टा बयमागताः तं रसं बिघट-यितुमाह। मधुररसालंबनेषु सादरं बाक्यं स्थायिभावबिघट-कमिति भावः। ननु स्वागतप्रश्ने मया किमपराधं तदपि किमित्याक्रोशः क्रियत इति चेत्त्राहुः भवता प्रतिश्रुतं प्रियं किं करबाणि ब इति स्मृतिपथमवतीर्णं चेत् तदास्मान् भज-स्वेति सुन्दरपात्राणि चेद्विषं तदा किं, भजनमेवत् चित्तानुवृत्ति-रित्यर्थः। अस्मच्चित्तानुवृत्त्या रमस्वेति, अन्यथा प्रतिज्ञाभंगः स्यादितिभावः। किं च व्रजस्यानामयं कच्चिदिति बचनं तव नोचितमित्याहुः सर्बान् बिषयान्संत्यज्य तव पादमूलं भक्ता सर्वेन्द्रियार्थानप्रत्यापत्तिरूपतया त्यक्त्वा तब पादमूलं सेवितु-मागताः दासीर्भबितुमित्यर्थः। बिषयभोगस्तु पत्यादिमूलकः स तु सकारणस्त्यक्त एव ननु गृहस्वामिं बिहाय किमिति दास्यं स्विक्रियत इति चेत्त्राहुः यत्सुखं त्वद् भजने गृहस्वा मिना तत्सुखस्य गंधोऽपि न इति पूर्वमेब तारतम्यं ज्ञात्वा पत्यादयस्त्यक्ताः। त्वद्भजनं सुखावधिरूपं बिषयसेबनं दुःखाव-धिरूपं अत एव त्वद्भजन–प्रतिकूल्यात् सकारणबिषयांस्त्यक्त्वा दुःखरूपत्वानुसंधानेन तदुपेक्षयाऽऽगतानां पुनरपि दुःखरूपस्य अनामयप्रश्नेन दुःखस्यानुस्मरणकार्यं तु सुखरूपात् त्वद्भजना-च्च्याबयितुं तब नोचितमिति भाबः। यदुक्तं ब्रूतागमन-कारणमिति तदुत्तरयन्ति अस्मान्मा त्यजास्मत् स्वीकारं कुर्वि-त्यर्थः। स्वीकारं कारयितुमागता बिद्धि कीदृशस्त्वं देवोऽसि सेबनार्होऽसि बयं दास्यार्हाः। इदं त्वतिदैन्यं निवेदितं। यद्वा देबः क्रीडास्वभाबः क्रीडा तु स्वकीयसापेक्षऽतोऽस्मतः को बा तब स्वकीयोऽस्ति प्रियबर्गैः सहाबिर्भाविता क्रिया क्रीडेति प्रियबर्गो दुःखे निमज्जनीय इति कस्यापि मनस्युदेतीति काका

प्रश्नः। हे दुरवग्रह बारंबारं गेयसि गृहान् प्रतियातेति। यद्वा
दुष्टेष्वपि पूतनादिषु अव श्रवनं पचाद्यं च इति ग्रहोभिः-
निवेशो यस्य "जिघांसयापि हरये स्तनं दत्त्वाप तद्गतिमि"
त्युक्तत्वात्। यद्वा दुःखस्य अव अवरक्षणमिति यावत्। तद्रूपो
ग्रह आग्रहो यस्य प्रियवर्गो दुःखे निमज्जनीय इतियत्। यद्वा
दुष्टेस्वस्मत्पत्यादिषु त्वद्भजनप्रतिकूलेषु अव अवनं इति ग्रह
आग्रहो यस्य अनामयप्रश्नेन स्वरहस्योद्घाटितत्वात्। एके दुष्टाः
मारणीया एके दुष्टा रक्षणीया इति वैषम्यं तव नोचितमिति
भावः। ननु निरपेक्षस्यौदासीनस्य मम किं फलं भविष्यति
युष्मद्भजने इति चेत्तत्राहुः आदिपुरुषः पुरुषोत्तमोऽपि निर्लि-
प्तोऽपि यथा भजतो भजमानान् भक्तिपूर्णान् स्वीयपाद-
पद्ममकरन्ददानेन भजते अथ च मुमुक्षून् मुक्तिदानेन भजते।
त्वं तु देवः क्रीडाप्रधानोऽसि क्रीडा तु स्वकीयसापेक्षाऽतो-
ऽस्मन्मनोरथपूरणे तव दोषो न घटतीत्यर्थः। यद्वा हे विभो
सर्वान्तर्यामिन् अस्माकमन्तःकरणवृत्तिर्जानात्येवातो भक्तानाम-
भजने भजनस्य लोपप्रसंगः स्यात् "तस्मान्मच्छरणं गोष्ठमिति"
व्रतलोपेनाधर्मोत्पत्तेः। नन्वीश्वरस्य मम कोऽयमधर्म इति
चेत्तत्राहुः हे दुरवग्रह दुष्ट आग्रहो यस्य तथाहि भक्तभजन-
रूपस्य धर्मस्य त्यागः स्वप्रतिज्ञाहानिरूपस्य स्वव्रजजनत्याग-
रूपस्याधर्मस्य स्वीकार इति। तद्दुराग्रहं त्यक्त्वा "न मे
भक्तः प्रणश्यती"त्याग्रहेणास्मान् भजस्वास्मन्मनोरथं पूरये-
त्यर्थः ॥३१॥

"यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्म-
विदा त्वयोक्तम्। अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे, प्रेष्ठो
भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ॥३२॥

ननु परिणामविरसत्वाद्विषयाः त्यक्तास्तत्साधुकृतं पत्य-
त्यादिशुश्रूषणलक्षणो धर्मस्त्यक्तस्तदसाधुकृतं धर्मस्य परिणामे
सुखजनकत्वात् औपपत्यस्य स्वीकारो न साधु परिणामे दुःख-
जनकत्वात् इति चेत्तत्र श्रीकृष्णोक्तिक्रममुल्लंघ्य धर्मोपदेशं सोढु-
मपारयन्त्यस्तावत् भर्त्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणामित्यस्योत्तरं सोपहा-
समाहुः। यत्पत्येति अंग हे सखे इति सम्बोधनेन धर्मोप-
देशेन त्वया महानुपकारः कृत इति ज्ञायते। यतः यस्मात्
पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिः स्त्रीणां स्वधर्म इति एवं विध धर्म-
विदा त्वयोक्तं तत्सर्वं त्वय्येवास्तु। कुत ईशे ब्रह्मादीनां
नियन्तरि तानपि नियन्तुं समर्थे किं पुनरस्मान् यद्वा गर्गो-
क्त्या "नारायणसमो गुणैरिति" गोवर्द्धनोद्धरणादिना च
प्रकटितसामर्थ्येऽत एवेशे सर्वस्य व्रजस्य स्वामिनि व्रजेन्द्र-
पुत्रत्वात् उपदेशपदे स्थाने आश्रय इत्यर्थः। यस्तु प्रभुर्भवति
स तु सर्वेभ्यो धर्मोपदेशं करोति। अत एव प्रभुत्वात्
पत्यादिषु करणीयं शुश्रूषणादि तत्सर्वं त्वय्येवास्तु। तदुक्तं
"यथा तरोर्मूलनिषेचनेनेति" त्वय्याराधिते सर्वमाराधितं
भवतीति श्रुतिरूपाः कुमार्यो वदन्ति सिद्धान्तमिति यतः
सर्वेषां तनुभृतां सर्वप्राणिनां बन्धुश्चात्मा च त्वमेव त्वदा-
राधनेन सर्वं प्राणिनामाराधनं भविष्यत्येव। किं पुनरस्मत्पत्या-
दीनां अतः त्वदाराधनद्वारेण त्वदुक्तं पत्यादि शुश्रूषणं क्रियत्
एवं त्वदाराधनमन्तरेण क्रियमाणपत्यादि शुश्रूषणमशुश्रूषण-
पर्यवसार्थं भवेत्। शाखासेचनवत्। यद्वा अस्मत्सम्बन्धिनां
पत्यपत्यसुहृदां स्त्रीणामस्माकं च अन्येषां तनुभृतामीशेऽनुवृत्तिः
स्वधर्म इति त्वयैवोक्तम्। "अपि चेत्सुदुराचारो भजते माम-
नन्यभाक्। साधुरेव स मंतव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यतीति"। अन्यच्च

"स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यांति परां गतिमिति" त्वयो-क्त
मेतत् त्वय्येवास्तु यतो भवान् प्रेष्ठः प्रीतिबिषयः प्रीतिविषयेषु यत्क-
र्तव्यं तत्त्वय्येवास्तु तत्वतः न कोपि प्रीतिबिषयः इतिभावात्।
बन्धुश्च परस्परं प्रेम्ना बध्नातीति बन्धुः स एवंभूतस्तु भवतोऽन्य-
बन्धुषु यत्कर्तव्यं तत्त्वय्येवास्तु किं च भवानात्मेति यदात्ममि कर्त-
व्यं तत्त्वय्येवास्तु यद्वा यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरंग स्त्रीणां स्व-
धर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तं न तु माहशीनां भवत्-प्रियाणां
एतदुपदेशः तेषामुपदेशानां पदे स्थाने एबमेबास्तु नैतदुपदेश-
स्थानं किंतु रमणस्थानं किं च त्वयीशे नियन्तरि सति प्रति-
बचनस्यापि नाबकाशः यतः त्वं तनुभृतां त्वदर्थ्येमेब देह-
धारिणीनां नः प्रेष्ठो बन्धुश्चात्मा च भबानेबातस्त्वय्येवंगुण-
बिशिष्टे आत्मनि स्नेहमन्तरेण किंचित् न प्रतिभातीतिभावः।
यद्वा स्वमतं कुमार्य उपन्यसन्ति। त्वद्भजनमन्तरेण स्त्रीणां
नान्यो धर्मः। त्वया तु स्वभजनं त्याजयित्वा पत्यादिशुश्रू-
षणं स्वधर्म इत्युक्तं। अस्मन्मते तु पत्यादीनामनुवृत्तिस्त्व-
द्भजममन्तरेण सुतरामधर्मः। त्वद्भजनत्यागलक्षण एकोऽधर्मः
द्वितीयस्तु तत्त्यागपूर्वकपत्यादीनामनुवृत्तिलक्षणोऽधर्मः एतदधर्म-
द्वयं नास्माभिरभ्युपगन्तुं शक्यतेऽत एतदुपदे शस्यपदे बिषये
त्वय्येवैतदधर्मद्वयमस्तु तिष्ठतु नास्मासु योग्यतास्ति कीदृशे
त्वयि ईशे ईश्वरे धर्माधर्मयोः ज्ञानाज्ञान-योरबस्थितिश्रबणात
येषां त्वयि ईश्वरत्वस्फूर्तिस्तेषामेव भवत्प्रेरितानामधर्मेषु प्रवृत्ति-
रस्तु अस्माकं तु भवान् स्वदृष्टांतेन सर्वेषामेव तनुभृतां
प्रेष्ठो बन्धुर्हितकर्त्ता प्रतीयते, यद्वा पत्यपत्यसुहृदां स्त्रीणां
चान्येषां तनुभृतां चानुवृत्तिः शुश्रूषणं तदनुकूलत्वं तत
स्वधर्मः स्वस्य तवैव धर्मेनास्माकमिति धर्मबिदा त्वयोक्तं
तदुक्तं गीतायां "शमोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति

न प्रियः" इत्युपदेशपदे उपदेशबिषये एतत्समदृष्टितया सर्वे-
षामनुवृत्तिरनुरंजनं तत्त्वय्येबास्तुप सादिनारानपेक्षेप कारकः।
आत्मा अन्तर्यामितया प्रेरकश्च ईदृशं धर्मं त्वक्तैवबात्रा-
गतानां त्वया प्रेरितानामपि पुनर्नैतस्मिन्धर्मे प्रवृत्तिर्भविष्य-
तीतिभावः, यद्वा पत्यादिशुश्रूषणेन किमपि न प्राप्तमित्य-
श्रद्धया इत्युक्त्वा इदानीं एताः स्त्रीधर्म-शिक्षणीया इति
बिचार्यास्मासु शिष्यत्वमारोप्य स्त्रीणामयं धर्म इति धर्मबिदा
गुरुरूपेण त्वयोक्तमुपदिष्टं धर्मबिदेति मोहिनीरूपेण स्त्रीधर्म-
बिदेति सोल्लुंठं बचनं तदा त्वया एके बंचिता एके अमृतं
पायिता इति बचनं कृतबता किमुद्दिष्टं तत्स्मर्त्तव्यं स्वदृष्टांते-
नेदानीमपि बचनमेब शिक्षणीयम्। न तु पत्यादिशुश्रूषण-
मिति। अधुना परोपदेशं पदे पांडित्यमित्युपदिशता गुरुरूपेण
स्थीयते। तत् त्यक्त्वा स्त्रीधर्ममाश्रित्यास्मत्पत्यादयस्ताबत्
शुश्रूषणीया इति तदुक्तं "यद्यदाचरति श्रेयानितरस्तत्तादी-
हेति" इतिन्यायेन एतदुपदेशस्य पदे बिषये त्वय्येबास्तु यत्
ईशो सर्वं कर्तुं समर्थो न हि तब किंचदप्यशक्यमित्यर्थः।
भवान् प्रेष्ठोऽपि एतदुपदेशेनाप्रिय इब तनुभृतां बन्धुरात्मेव
भाति बध्नाति। स्वसेबनं त्याजयित्वा पत्यादिसेबनं प्रवृ-
र्त्तयति। बन्धुरात्मा अबिद्या तस्या आत्मापरैकोऽस्ति अत
एवंबिधस्वरूपं बिजानतीनां "आत्मा बारे द्रष्टव्य" इति दृढतर-
संस्कारबतीनां एतदुपासनात्यागपूर्वकं शकृतानां शुश्रूषणोप-
देशोऽकिंचिदेतदुपदेशस्य पदे आश्रये त्वय्येबास्तु। न त्वस्मासु
पर्यवस्यति यतो भबान् सर्बेषां तनुभृतां प्रेष्ठः चित्ताकर्षकः।
वंधुरभीष्टफलदाता आत्मा चेतयिता। अतस्त्वदेकजीबनानां
त्वत् प्रेरितानामेब पत्यादिसेबनलक्षणो धर्मः सिध्येत् चान्यथा
शास्त्रफलंप्रयोक्तरीतिन्यायेन। अन्यथात्राविजनपि तत्फलं

निर्दोषत्वख्यापनायोपदिश्यमानं पत्यादि-
स्यादिति । स्वस्य निर्दोषत्वख्यापनायोपदिश्यमानं पत्यादयोऽपि
शुश्रूषणं नास्माकं धर्मः किं तु तवैव धर्मः पत्यादयोऽपि
त्यक्ताः धर्मोऽपि त्यक्तः अतोऽस्माकमुपहेयत्वाभावे निर्णीते
तवोपदेष्टृत्वाभावोऽपि निर्णीत एवानधिकारात् तदुक्तमेकादशे-
"देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन् । सर्वा-
त्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्त्तम्" इति ।
नास्मासु विधिकिंकरत्वं अत एवापदेश्याभावे उपदेष्टृत्वमर-
ण्यरोदनवदनर्थमितिभावः । अत्रेदं तत्वं बुद्धिवृत्त्याप्रवर्तकेन
त्वया प्रेर्यमाणाभिरस्माभिः क्रियमाणं त्वच्छुश्रूषणमस्मासु
फलिष्यति बाह्यवृत्त्योपदिश्यमानं पत्यादिसेवनं नास्मासु संच-
रिष्यति । यद्वा पत्यादिसेवनं स्त्रीणां स्वधर्मः आत्म धर्म
देहधर्ममात्मधर्मत्वेनोपदेशता त्वया यदुक्तं "जन्तु न समं
जसं यत आत्मधर्मं विजानातीति" । नास्माकमग्रे एतत्सर्व-
मुपदेशस्यात्मसेवनरूपपदेऽधिष्टाने त्वय्येवास्तु । यतो भवां-
स्तनुभृतां सर्वेषामपि बन्धुरात्मा अतोऽस्माभिरुपदिश्यमानो
भवान् पत्यादिसेवनरूपं धर्ममनुतिष्ठतु धर्मपालकत्वात् मुख्य-
कर्तृत्वाच्च । त्वदुपदेशमन्तरेणापि विविदिषा वाक्येन स्वय-
मेव विचार्य त्वदाराधनमेवाचरिष्यामेति । वास्तवमस्माकमुप-
देष्टृत्वमितिभावः । किं च पत्यादीनामनुवृत्तिः स्त्रीणां स्वधर्मं
इति धर्मविदेति सोपहासमित्यादि श्रीधराचार्यैरिव व्याख्या-
तमलमिति विस्तरेणेति ॥३२॥

कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्
नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः कम् ।
तन्नः प्रसीद परमेश्वर मास्म छिन्द्या
आशां भृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र ॥३३॥

किं च आत्मारामाश्च मुनय इति मुक्ताऽपि भंजन्तो दृश्यन्त
तत्र सदाचारं त्याजयित्वा पत्यादिशुश्रूषणमुपदिश्यत इति
कोऽयमाग्रह इति । मातरः पितरः पुत्रा इति । तेषामागमन-
शंकामुत्पादयता त्वया कथमस्मिन्निवारणं क्रियते । वयं तु त्व-
दाशहृदयः सदाचारप्रवृत्तिदृष्टान्तेन दृढतरानुरक्ता वचन-
मात्रेण कथं निवृत्ता भविष्यामः इत्याशयेनाहुः कुर्वन्तीति–कुशला
विवेचननिपुणाः नारदादयस्त्वयि रतिं प्रीतिं परमाराध्यपुरस्कृ-
तत्वेन कुर्वन्ति । कथं भूते त्वयि आत्मनि लुप्तसप्तम्यन्तं स्वे
सर्वस्वरूपे किं च नित्यप्रिये प्रीतिहेतरादौदासीन्ये विद्यमाने-
ऽपि त्यक्तुमनर्थ्य--स्वभावमहिम्नांऽऽतर--सुख--प्रदत्वात् ।
यद्वा हे आत्मन् आत्मारामाणामपि देहेन्द्रियमनसामध्यक्ष ।
यद्वा कुशला विवेकवत्यो याज्ञिकपत्न्यः त्वयि रतिं उज्वलस्य
स्थायिभावं कुर्वन्ति । हि इति निश्चयं कीदृशे स्वे आत्मनि
स्वकीये आत्मनि अन्तर्यामिनि स्वरूपे तदुक्तं श्रीमुखेन "साधवो
हृदयं मह्यमिति" । अत एव पत्यादिषु शक्त्यैवांतर्यामिनि मधुर-
रसाधिकं कृतेषु स्वरूपेणेति । अत एव नित्यप्रिये सर्वदा स्वाभा-
विकपरमप्रेमास्पदरूपे स्वरूपे नित्यार्त्तिदैस्तत्प्रतिकूलैः पति-
सुतादिभिः किं कियत्सुखं भविष्यति न किंचिदित्यर्थः । न
हि धर्मस्य हेतवो भावाः दुःखप्रदाः प्रभवितुमर्हन्तीतिभावः ।
यद्येते दुःखप्रदाः भवेयुस्तर्हि त्यागार्हा नस्युरिति । यास्तु
कुशला अविदग्धास्ता एव पत्याद्यनुवृत्तिं कुर्वन्ति, आत्म-
सुखानभिज्ञानां तदेवोचितं विदग्धानामस्माकमग्रे पत्यादिसेवनो-
पदेशस्त्वकिंचित्करः उषरे बीजोप्तमिव निः फलः । "किं च आत्मनः
वै कामाय सर्वं प्रियं भवतीति" श्रुतेः । आत्मकामा विषय-
त्वावसितेति । प्रियाः यत आर्त्तिप्रदानां सेवा आर्तिप्रदा सुख-
प्रदानां सेवा सुखप्रदा तव तु सुखप्रदत्वात् त्वत्सेवा सुखरूपै-

"आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषत:" बानुभवसिद्धा किं च "आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषत:" न गुरुणा इति स्मृत्या स्वयमेबात्मानुसंधानबतीनामस्माकं न गुरुणा कृत्यमित्यर्थ:, सुखदु:खाभाबयोरेब पुरुषाथत्वात्, पत्यादीनां सेबनं न सुखं न च दु:खाभाव: अतस्त्वपुरुषार्थत्वान्नोपादेय-त्वम् । किं च "कृष्णमेनमबेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्" । अन्यच्च "तस्मात्मने प्रतिबिम्ब स्ययथा मुखश्रीरिति" । निर्धारितमेब नो-ऽस्माकमार्त्तिदैरस्मिन्निवारणेन त्वयि प्रतिकूलै: किं प्रयोजनं न किमपि नोचितं किं पुन: सेबनमिति । अत एब तेषु नात्म-सम्बन्धगन्धोऽपीत्यर्थ: । तस्मान्नोऽस्माकं प्रसीद औदासीन्यं परित्यज्येति स काकु दैन्यं ज्ञापयन्ति हे बरद हे ईश्वरेति पदद्वयं अन्यथा रमणे बिलम्बो नास्मृतिपथमवतरति । इदानीमेब कुमारी-संगतत्वात् सर्बा अपि नो नर्मोक्त्या किमिति व्याकुलयसीति । मयेमा रंस्यथ क्षपा इति कुमारीष्वपि प्रतिश्रुतं तत् परिपा-लनेन प्रसीद कौटिल्यं त्यजेत्यर्थ: । यत् त्वं बरद: ईश्वर: समर्थश्च ईशितव्यानां कामसम्पादने ईश्वरत्वं न सिद्ध्येत् । बरदानां त्व सम्भबे जनाभाव: पर्यवस्येत् । नन्वीश्वरत्वेन मयि ज्ञाते सति यत्र कुत्र स्थिता मच्चिन्तनं क्रियतां किमत्राबस्थाने-नेति चेत्तत्राहु: हे अरबिन्दलोचन नेत्रतापहरबिलोचन स्वयं-भाव: अस्माकं सर्वलाबण्यपुंजस्वरूपो भासि ईश्वरत्वं वैभवा-बरथोपासकानां स्वरूपोपासकानां लाबण्यमेव बिषय: न त्वीश्व-रत्वं प्रेमाभिभूतत्वात् क्वचिदुक्तिमूद्गारात् "नारायणसमो गुणै रिति" गर्गोक्त्या वा दावाग्निपानाद्यमानुषकर्मपरिशीलनेन वा परन्तु तत् ज्ञानं परोक्षमिब भाषते तदुक्तं "गोप्यो हि नित्य मुदित-हसित-प्रेक्षणं मुखम् । पश्यन्त्यो बिबधा स्वाया स्तरं-तिस्माश्रममुदेति" । प्रत्यक्षे यथा चन्द्रे देबत्वममृतरूपत्वं च चकोरस्यामृतरूपत्वं बिषयं न देबत्वं तथा श्रीकृष्णोऽपि,

यद्यपि सर्वदा तापहरबिलोचनत्वेन प्रतीतस्तथापि दासीनां कथं तापकरबिलोचनत्वेन प्रतीयसे इदमेब चित्रं यदेब संयोगे शैत्यहेतुस्तदेब बिप्रलम्भे तापहेतुरिति प्रतीम: । यद्वा बरदे-श्वर बरदानामस्माकमीश्वर ब्रजेश्वरपुत्रत्वात् तदा कदम्बाधिरु-ढाय तुभ्यं बरो दत्त: "स्यामसुन्दर ते दास्यं करबाम तबो-दितमिति" अस्मत्प्रतिश्रुतानन्तरं "मयेमा रंस्यथ क्षपा" इति त्वयापि प्रतिश्रुतं तत्प्रभृती धृतामाशां त्वदंगसंगेच्छां ततोपि प्राक् पूर्वजन्मनि श्रुति रूपाभिरस्माभि: प्रार्थित: चिकीर्षाजनित-सातत्वया च बरो दत्त: "पुरा सारस्वते कल्पे ब्रजे गोप्यो भबिष्यथेति" । तत्प्रभृति चिरात् धृञ् अवस्थाने इति धातो रूपं धृगमबस्थितां श्रावयितुमशक्यां भवानिति शेष: मास्म च्छिद्या स्मेति बितर्के मा छिंधि महाकालरूढज्वालाकराले क्षणमपि तद्व दिहाग्नौ पतितं शरीरं सद्य एब भस्मीभूतंस्यात् त-देव यदि जीवितहेतोराशा न स्यादिति । तब प्रतिश्रुते आशा जाता सा च बद्धमूला इदानीं प्रतिश्रुताकरणे आशा छिन्ना भवेत् अस्मच्छरीरपाते तव-रमणं कुत्र भविष्यतीत्यभिप्राय: । किं च देहपातेप्यऽबश्यं त्वां प्राप्स्याम: । परन्तु अमूर्तेना-स्माकमात्मना मूर्तस्य रमणं कथं संभबिष्यति रमणस्वभाव-त्वात्तबेति भाव: ॥३३॥

चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु
यन्निर्विशन्त्युत करावपि गृह्यकृत्ये ।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्याम:
कथं ब्रजमथो करबाम किं वा ॥३४॥

ननु मदाज्ञोल्लंघनेनेहाबस्थाने महदनिष्टं स्यात् । ततो यद्

बह्निना भव दर्शनार्थमागतानां भवतीनां गृहगमनमेबोचित-
मिति चेत्तत्राहुः अशक्यत्वात् त्वादधीनमिति चित्तमिति । भवद्-
र्शनात्प्राक् चित्तं गृहेषु गृहकृत्येषु निविष्टमासीत् । तच्चित्तं
सुखेन स्वरूपेण भवतापऽहृतम्, यद्वा सुखेन गृहसुखेन सहा-
पहृतं सुखमपहृतमेबातो दुःखात्मकत्वाद्गृहस्त्यक्ताः किं च
भवन्त्यः बनदर्शनार्थमागतास्तदपि च जातं दर्शनव्यापारस्य
चित्ताधीनत्वात् एताबत्पर्यन्तं एबापि गृह्यकृत्ये निबिष्टाबा-
स्ताम् तयोरपि कर्मकरणसामर्थ्यस्य त्वयैबापहृतत्वात् । इदानीं
गृहकृत्येन निविशतः एताबत्पयेन्तं पादाबपि इतस्ततो गमने
निबिष्टा बास्तां ताबपि गमने निबिशतस्तयोरपि गतेस्त्वयै-
बापहृतम् । पादौ पदं स्वकीयं स्थानं प्रति न चलतः । तब
पादमूलाद्व्रजं कथं यामः । अथयेन केनाप्यमानेन गत्वा
किं करबामः करयोः पादयोश्च शून्यत्वात् । यद्वा "तद्यात
माचिरं गोष्ठं शुश्रूषध्वं पतीन् सतीरिति" । तदेदमप्यस-
कर्यामित्याहुः तच्चित्तं भवदपहारात्प्राक् सुखेन यत्नेन गृहे तत्ताद्
व्यापारेषु निबिष्टमासीत् । तच्चेतनापहारिणा भवतापहृतं इदानीं
न निर्बिशति "श्यामसुन्दर ते दास्यः करबाम तबोदितमिति"
प्रतिश्रुतं दास्यं सत्य बोऽस्माभिः क्रिये तदपि चित्तमपहृतं
न भवेत् । शून्यचित्तासु तब योगस्याकिंचित्करत्वात् किंचि-
त्पत्यादिशुश्रूषा कराधीना । तयोरपि क्रियाशक्तेस्त्वयैबापहृत-
त्वात् । क्रियाशक्तिमन्तरेण पत्यादिसेबनस्याशक्यत्वात् ! न तु
न किंचिन्नियुज्यते । इतो व्रजं यातेति तत्राहुः पादौ इतः ते
च पादमूलस्थानात् एकमपि पदं न चलतः गमनमप्यशक्यं न
तः कर्म करणमित्यर्थः । गतिमन्तरेण पादयो बिद्यमान-
न यदि गमनं संभाव्यते तदा पादपानामपि गमनं संभ-
वेत् । तेषामपि पदानां बिद्यमानत्वात् अयं भावः–इयं लीला

निरोधात्मिका व्रज-देबीनां चित्तं स्वयमाकृष्य स्वचित्ते निवे-
शितं क्षीरनीरवदाश्लिष्टं ततो निःकाशयितुमशक्यं चित्त-
मिति-सर्वेन्द्रियोपलक्षणम् । अतः सर्वस्वमपहृत्य प्रस्थानं नमणै-
बेति । ननु बेणुनादात्मकेन महामोहनमन्त्रेणास्मान् वने
आहूय किमिति बिडंबयसीति मनसि निधायाहुः चित्तं सुखेन
रमणसुखेन निमित्तेन भबताऽहृतं अत एव तव गृहेषु कुञ्जा-
दिमन्दिरेषु यस्मात् निविशति रन्तुं प्रविशति, करावपि गृह्य-
कृत्येषु पुष्प-शय्यादि रचनासु निर्बिशतः, पत्यादिशुश्रूष-
णस्य त्यक्तत्वात् । पादौ तब पादमूलादन्यपदं स्थानं प्रति न
चलतः । इहैबाबस्थानाध्यबसायस्य कृतत्वात् तब चरणेन सह
नृत्यं करिष्यतः । तस्मात् व्रजं कथं यामः किमर्थं यामः न
किंचिदपि व्रजस्य त्यक्तत्वात् । अन्यथा वान्ताशिन्यो भवेमः ।
अथोऽस्माकमध्यबसायं ज्ञात्वा बिलासोपयोगिनीकृत्ये नियुं-
क्ष्वेति । किं चाभीष्टं करबामेति दासीभबितुमागता बिद्धि ।
यद्वा चित्ताद्यपहृत्य व्रजप्रस्थापने कृते सति तव किम-
भीष्टं भबिष्यति । अस्मदबस्थादर्शनेन पत्यादिभिः पृष्टाः किं
बदिष्यामः । अतः किं दास्यं करबामेति स्वीकृतेऽस्मान् नियुं-
क्ष्वेति भावः । यद्वा तद्यातेति यदि सर्बात्मभाबेन व्रजगमनं
प्रत्युनुज्ञा दीयते तर्हि अस्माकं यच्चित्ताद्यपहृतं तत्पुन प्रत्य-
र्पयेति । तच्च तबाशक्यं यथा नीरक्षीरं तदेब पृथक्कर्तुं न
शक्यं तथाऽस्मच्चित्ताद्यपहृत्य स्वचित्तादिष्वेकीकृतं पुनः पृथ-
क्कृत्य तस्य प्रत्यर्पणं तवाशक्यमिति । तथा व्रजगमनमस्माक-
मपीति ॥३४॥

सिञ्चाङ्ग नस्त्वधरामृतपूरकेण
हासावलोककल-गीतजहृच्छयाग्निम् ।

नो चेद् वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा
ध्यानेन थाम पदयोः पदवीं सखे ते ॥३५॥

एवं दैन्यनिबेदनेन श्रीकृष्णस्य चित्तमार्द्रामलक्षयन्त्यो
विरहाग्निना दह्यमानाशयास्तं सोढुमपारयन्त्यः प्रार्थयन्ते । सि-
ञ्चेति । अङ्ग भो कृष्ण नोऽस्माकं सिंच तर्पय, किमिति
प्रेक्षायां प्रस्तुतं निबेदयन्ति तबेति प्रकरणबशात् ज्ञातव्यम्
तवैब हाससहितोऽबलोकः कलगीतं च ताभ्यां जातो यो
हृच्छयः कामः स एवाग्निः दाहकमिति । केन साधनेन निर्बा-
पनीय इत्यपेक्षायामाहुः तवैवाधरामृतस्य पूरः प्रबाहस्तदेव कं
जलं तेनेत्यर्थः । किं च कामरूपस्य हृद्रोगस्य निदानं जानीमः
तन्निबर्तकमौषधमपि जानीमः परन्तु निदानमपि त्वदधीनमौ-
षधमपि त्वदधीनमिति । अतोऽयमधुनैवोत्थितोग्निरस्माकं दग्धु-
मुपक्रान्तोस्ति यावन्निः शेषं न दहति तावत्प्रतीकारं क्रिय-
ताम् । यथा कालियदमने दावाग्निपानेन सर्वेषां ब्रजौकसां
रक्षा कृता तथा अस्मदादपि बह्नेरस्मान् रक्ष । किंत्वयमग्निः
पातुं न शक्यो यतोऽन्तरेवदाहको न वहिरतस्त्वया पाते सति
अस्माकमिव तवाप्येतद्दाहो भविष्यतीति पाने भवान्न युज्यते ।
किंचान्तरदाहकत्वमस्माभिरेबानुभूतं स तु दावाग्निः केनाप्य-
सुरेणोत्पादितः अयमग्निस्तवैव हासावलोककलगीताभ्यां जनि-
तोऽतस्तवैवाधरामृतपूरकेण शैत्यहेतुना दावाग्नेरपि एतस्याग्ने-
र्महत्वमालोक्य निर्वापयेति । दावाग्नेः सर्बाक्षिगोचरत्वं दृष्टं
एतस्याग्नेः कस्याप्यक्षिगोचरत्वं न, अधरामृतपानेनान्तस्ताप-
निवृत्तौ सत्यां स्वयमेवाग्निः निर्वाणं गमिष्यतीतिभावः । इद-
मत्र तत्वं निदाने निवृत्ते रोगोऽपि निबर्तत इति प्रसिद्धेः,
रहस्यस्माभिः क्रियमाणेनाधरामृतपानेन सुखोत्पत्तौ जातायां

तवाक्षिनिमीलने जाते सति हासावलोककलगीतयोरपि क्षण
मात्रोपरमो भविष्यति । अत एव निदानोपरतौ केनाप्यलक्षितो
हृच्छयाग्नेरप्युपरमो भविष्यतीतिभावः । यद्यपि नायिकानां
स्वयमेवाधरामृतप्रार्थनं कामशास्त्र-विरुद्धं रसजनकं न तथापि
मोहितानां परमप्रेमबतीनां युक्तायुक्त कथनविवेक-रहितानामा
सां हृच्छयाग्निज्वालाबलंढत्वात् एवमुक्तं व्यतिरेके तव मह-
दीयं कीर्तिरस्माकं च महती सत्कीर्ति र्भविष्यतीत्याहुः नो
चेत् यदि हृच्छयाग्निं न निर्बापयसि तदा बयं तव पादयोः
ध्यानेन पदबीमन्तिकं याम यास्यामेत्यर्थः यद्वातो ध्यानेन
पदयोः पदवी मार्गयामः इदानीमेव प्राप्नुयामः न तु कालां-
तरे । तत्र मरणे व्यवसायात्मकानां भगवद्बिमुखानां पत्या-
दीनां संगजनितदोषस्य प्रायश्चित्तान्तरेणानिवर्त्यत्वमाशंक्याग्नि-
प्रवेशजनितशुद्ध्या श्रीकृष्णप्राप्तियोग्यतां सम्भाव्याहुः विरह-
जेति विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा इति हृच्छयाग्निरन्तरदाहकः
मनो दग्ध्वा भस्मनि जाते तस्मादवशिष्टेन केनचिद्विस्फुलिंगेन
हेतुनातस्तथा शुष्के शरीरे काष्ठप्राये जाते तस्मिन् पतिते-
नान्य एवाग्निरुत्पद्यते तमेवाहुः अधरामृताप्राप्ता विरहा जनि-
ष्यते । तोऽग्निनोपयुक्ता दग्धा देहा यासां ता बयं, यद्वा विरह-
जाग्नेरेबोपयुक्तानुचिता न तु रमणयोग्यादेहा यासां ता
भगवद्बिमुखानां संसर्गेण मलिनत्वात् । अत एव मलिनस्य
रमणायोग्यत्वमालक्ष्य भवता प्रत्याख्यात "तद्यातेति" इदानीम-
योग्यं देहं दग्ध्वा ते पदयोः ध्यानेन हेतुना पदवीं सामयोग्यं
स्थानं रमणयोगेन शुद्धेन देहेन यास्यामः । हे सखे इति
सम्बोधनेनैतत् ज्ञायते । यस्तु सखा स तु सखीनां वंचको
न भवति । ननु मया किं वञ्चनं कृतमिति चेत्तत्राहुः हृच्छ-
याग्निनिर्बापके औषधे बिद्यमानेपि न ददासीदमेव, यद्वा योगि-

पदवीं सान्निध्यं यामः
न इव ध्यानेनेदानीं ते पदयोः पदवीं
प्राप्नुमः । क्षणान्तरे विरहाग्निदग्धदेहास्ते पदयोः पदवीं
शुद्धचैतन्येनाव्यवहितं सांनिध्यं प्राप्स्यामः अस्मिन् देहे दग्धे
सति त्वयि निघृणत्वं दुःकार्तिमत्वं पर्यवस्यति । अयम-
भिप्रायः हासावलोकः संधुक्षणं कलगीतं च बायुरत उभाभ्यां
जानतो हृच्छयाग्निः स चालौकिकः तवाधरामृतपूरकेनो-
पशाम्यति, अधरामृतस्याप्यलौकिकत्वं अत एवालौकिकेनामृते-
नालौकिकाग्निप्रशमं नतु देवभोग्यामृतेनोपशमः तस्य संसार-
तापहेतुत्वात् । यतः स एव हृच्छयाग्निरधरामृतपानाभावे
विरहाग्निमुत्पाद्य देहं भस्मी करोति अतो हृच्छयाग्नियुक्ता
एव त्वां प्राप्स्यामस्तदा स तापस्त्वय्यपि संचरिष्यतीति ॥३५॥

यर्ह्यम्बुजाक्ष तव पादतलं रमाया
दत्तक्षणं क्वचिदरण्यजनप्रियस्य ।
अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्य समक्षमङ्ग
स्थातुं त्वयाभिरमिता बत पारयामः ॥३६॥

नन्वहं भवतीनां मित्रः परमकारुणिकश्च मयि असूया
नोचिता दुःशील इत्यादिना धर्मोपदेष्टत्वात् । अत्रावस्थानं
बलबदनिष्टानुबन्धि अतो व्यावृत्य तानेवोपयन्तु अत एवैन-
मग्निं निर्वापयिष्यतीति चेत्तत्राहुः यर्हीति हे अम्बुजाक्ष
हृच्छयाग्नितापो शमनविलोचन किं पुनरधरामृतदानेति सूचितं
तर्हि यदा यदा तव पादतलमस्प्राक्ष्म स्पृष्टवत्यो वयं, कीदृशं
पादतलं रमाया लक्ष्म्याः क्वचिद्देशे काले वा दत्ताक्षणं दत्ता-
नन्दं दत्तावसरवान् सर्वदा । यतो बृन्दाबनप्रदेशेषु रतत्वात्
नैकत्र लब्धपदं श्रीः सुपर्यं केशयानं पारमेष्ठ्यं श्रिया विराज-
मानमेव परिचरति न तु गोचारणादौ यद्यपि लक्ष्मी नित्यं

बक्षसि बसति तथा पादपद्-सौभगमधिकमिति ज्ञात्वा चर-
णतल एव साभिलाषा भवति न तु सर्वदाप्नोति । यत-
स्तस्या गौरबमेब करोति । अतः सदा सेवितुमवसरं न ददासि ।
अहो अचिन्त्यो पादतलरसस्य महिमा यदेष सर्वतः सर्वा-
नेब निरुणद्धि । यथा श्रीरपि पादपरागाशया अरण्यजनो
भबितुमिच्छति तथा बयमपि अरण्यजना भबितुमिच्छामः कथं-
भूतस्य अरण्यजनप्रियस्य अरण्यस्य वृन्दारण्यस्य जनाः पुलि
न्द्यादयाः प्रिया यस्य कन्दमूलाद्युपहारसमर्पणशीलत्वात
धन्याः "पूर्णाः पुलिन्द" इति पूर्वमप्युक्तत्वादिति साम्यसूयं
बाक्यं न त्वस्मदादयो ब्रजजनाः प्रिया अतः क्वचिद्वयमत्र-
हे अम्बुजाक्ष तत्प्रभृति तदारभ्य अन्य-समक्षं स्थातुमपि
न पारयामः किं पुनः रमणापेक्षया तदुचिते स्थानेपि उप-
वेष्टितमिति । तस्मादस्माकं तन्न रोचत इत्यर्थः । बिशेषतः-
स्त्वया अभिरमिता अत एब तद्रमणमनुभूय स्मृत्वा
चागता न ह्यननुभूतं स्मर्यते । तस्मात् वृन्दाबने बासं
कर्तुमागतानां त्यागोऽनुचित इति । तब त्वरण्यजन-
प्रियत्वात् । बयमपि तथा भवितुमागता विद्धि । यद्वा अरण्यं
वृन्दाबनं तस्मिन् जायत इति जनाः मृगपक्ष्यादयस्तेऽपि
प्रियाः यस्य तदुक्तं-"प्रायो बताम्बेति." "धन्यास्म मूढमत-
योपि हरिण्य" इत्युक्तत्वात् । अस्मद्भोग्यं बस्तु एते वृन्दा-
बननिबसिनो दर्शनादिनाऽऽस्वादयन्तीत्यमर्षणैबागता न त्यक्तु-
मर्हसीतिभाब । यद्वा अरण्यजनानां प्रियस्येति अत एव ब्रजं
त्यक्त्वा तेषु प्रीतिं कर्तुं बृन्दारण्ये कृतनिबासस्य, ब्रजवा-
सिनस्तु मत्सरग्रस्तत्वात् समक्षे तत्र सहते अरण्यजनानां
मत्सरादेराहित्यं ज्ञात्वाऽऽगतानामस्माकं रमणं देहि । यत्त्व-
या पूर्वमभिरमिताः यतोऽत्र कोपि प्रतिबन्धको नास्ति । तस्मा-

तद्युक्तं "यत्र नैसर्गदुर्वैरा: प्रवृत्तिर्भविष्यतीति
न्निःशंकं बिलासे सम्बोधनेनैतत्सूच्यते
सहासन् नृमृगादय" इति। अङ्गेति
त्वं त्वस्मत्सहायकर्त्ताऽनुकूलश्च एतावत्पर्यंतमीदृशो भूत्वा
प्रतिकूलसङ्गं कारयितुमिच्छसीति चित्रं वर्तेति खेदे अङ्ग इति
पाठे दिवातु अरण्यजनप्रियस्याग्रण्यजना गोपा: प्रिया: यस्य
रात्रौ त्वया अभि निःशंकं रमिता तदा पादतलं अस्माद्म
तत्प्रभृति अंज स्वभावेनैवान्यसमक्षं स्थातुं न पारयाम: किन्तु
त्वत्समीपे एव स्थातुं रोचते च त्वयाऽस्माकं स्वभावो-
ऽन्यथा कर्तुं शक्यत इति भाव: । रमणसंस्कारस्य त्वयैव जनि-
त्वात् रमणमन्तरेण क्षणमपि नेतुं न शक्नुम इत्यर्थ: ॥३६॥

श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या
लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम् ।
यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयास-
स्तद्वद् वयं च तव पादरजः प्रपन्ना: ॥३७॥

त्वयाभिरमिता इत्युक्ते सति कदाचिदुत्तमेत पदे ता
उत्तमाधिकारं प्राप्तुमिच्छतीति मनसि विचार्य्य यथा लक्ष्मी
रुतस्य माधि परित्यज्य पादरज: कामयते तद्वद्वयमेति
प्रार्थयन्त्य प्राहु: श्रीरिति श्रीरपि यस्य तव पादाम्बुज-
रज: सेव्यत्वेन चकमे कामित्ववती बक्षसि असापन्त्यं
स्थानं लब्ध्वापि श्री तु उत्तमनायिका परमविदग्धा च पाद-
तलस्य सौभाग्यातिशयं बिचार्य पदाम्बुजरज एव सेवते स्म
असापन्त्यं स्थानं त्यक्त्वा सपत्न्या तुलस्या सह सेवते बक्षसि
एक एव रस: चरणतलं सर्वरसस्याश्रयभूतं रागसारस्य चरणा-
श्रितत्वात् । एवं सर्वरसानां रागे स्वादुबिशेषमभिलाषमाना
चरणरज: सेवते । नन्वासां श्रीसेव्यत्वज्ञानं कथमिति चेत्तत्राह

एतास्तु श्रुतय: पूर्वजन्मनि ज्ञातैश्वर्या अत: श्रीसेव्यत्वमुदा-
हुरन्ति । यद्वा "नारायणसमो गुणैरिति" गर्गोक्त्या श्रीसेव्य-
त्वोक्तिरिति न किंचिदनुपपन्नम् । कीदृशं पादरज: भृत्यजुष्टं
रसविशेषेण भृत्या पोष्या द्वादश रसालम्बनरूपास्तैर्जुष्टम् ।
ननु यदि तुलस्या अन्यैर्भृत्यैश्च सेवितं तर्हि कथं श्रिय: स्पर्द्धा
न जाता । तत्र समाधत्ते यथा तुलसी श्रीकृष्णस्यातीव
प्रिया अन्यैर्भृत्यै: सेव्यमानं दृष्ट्वा तस्या मनसि स्पर्द्धा न जाता
कित्वतीव हर्षेण सेवते स्म तथाश्रियोपि वृन्दाबनमाहात्म्येन
स्पर्द्धावसरो उक्तं च 'यत्र नैसर्गदुर्वैरा" इति । सेवासुख-
निमग्नानां परस्परानभिज्ञानामिव निर्मत्सराणां चरणरज:
सेबिनां मनसि स्पर्द्धानावकास लभत इति भाव: । सेबये-
बाधिकारदार्ढ्यं नान्यथेति । यस्या श्रिय स्वबीक्षणकृते
श्रीरस्मानवलोकयन्त्वेतदर्थं । अन्येषां सुराणां ब्रह्मादीनां प्रयास
स्तपोभि: रुद्यम: । सा यथा क्षीरोदमथने उद्भूता कामयमानान्
ब्रह्मादीन् हित्वा चरण रज इव सेवते स्म तथा श्रीशादृश्ये
कामायमानान् पत्यादीन्विहाय बयमपि पादरज: प्रपन्ना शरण-
प्राप्ता बयं तु नोत्तमाधिकारिण्य: किं तु दास-दासीनां
स्वामिसेबाधर्म: स्वामि-सम्बन्धिनां तदनुकूलानां च सेवा
धर्म: । अस्मत्पत्यादयस्तु न त्वनुकूला: प्रत्युतापकारिण:
अत एव तेषां त्याग एवोचित: । यद्यपि वैकुण्ठलक्ष्मी चाप-
लदोषमपहाय सदा वैकुण्ठनाथं भजत्येव तथा बृन्दाबनबिलासिन-
स्तव चरणरज: सेबने गुणाधिक्यमाकलय्य बृन्दाबनभूमौ बस-
तिमभिलाषमाना तथा करोति । उक्तं च "रमाक्रीडमभून्न-
पेति" अन्यच्च "यद्वांछया श्रीर्ललनाऽऽचरत्तपो विहाय कामा-
न्सुचिरं धृतव्रतेति" । अनेन भर्तु शुश्रूषणमित्यस्याप्यु-
त्तरं दत्तमेव । यद्वा श्रीरपि तु भार्यापिलस्यानुद्रणेन भृत्य

जुष्टं पादाम्बुजश्चक्रमे न तु प्राप भृत्यास्तु निश्चला यद्यपि तया चापलं त्यक्तं तथापि निष्किञ्चनानां तेषां मन रोधेन तस्यामादरविशेषातुदयात् । यस्याः स्ववीक्षणकृते स्वस्मिन् श्रियामित्यर्थः । वीक्षणं भृत्या मां विलोकयन्तु सारंगानां पदाम्बुजमित्युक्तत्वात् । तेषां सर्वस्वमत एव प्रसन्नैस्तदर्त्तो पाद-रजसि तेषां कृपयाधिकारणी स्यामिति मनांसि निधाय श्रीः प्रयासं करोति तद्वत्भृत्यजनवत् वयं तव रजः स्वत एव धन्यत्वं तव पादसम्बन्धेनातीवधन्यत्वमिति भावः ॥३७॥

तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेऽङ्घ्रिमूलं
प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः ।
त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकाम-
तप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम् ॥३८॥

इदानीं विरहाग्निज्वालावलीढमनस्त्वेन धैर्यं कर्तुमपारयन्त्यः सकाकुदैन्यमावेदयन्त्य प्रार्थयन्ते तन्नः प्रसीदेति यस्मात्तव पादरजः सेवनमेव पुरुषार्थावधिः लक्ष्मीदृष्टान्तेन च गतानुगतिकत्वेन तव चरणरजः सेवनमेव गृहे स्थिताभिरेव व्यवसितं तस्मान्नोऽस्मान् प्रति प्रसीद प्रसन्नो भव वाग्भंग्या कौटिल्यं त्यजेति । हे वृजिनार्दन दुःखहन् गोवर्द्धनोद्धरणादिना परिशीलितव्रत कीदृशीः न तवांघ्रिमूलं चरणान्तिकं प्राप्ताः । किं कृत्वा वसतीः गृहान् विसृज्य त्यक्त्वा त्वदुपासनाशाः तवोपासने आशा यासां ताः नन्वेकान्ते वनमध्ये एकाकिना मया स्थीयते भवतीषु कथं प्रसादः कर्तव्य इति चेत्तत्राहुः तेऽङ्घ्रिमूलं प्राप्ताः यस्तु चरणमूलमुपास्ते स एव प्रसादपात्रं भवति । तत्र वयं वसती विसृज्य प्रत्यापत्तितया त्यक्त्वा आगताः ।

किं च "ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहमिति" । त्वयैवोक्तत्वात् वसतीरिति सपरिच्छद-सर्वलब्ध-परित्यागोपि विवक्षित इति । वृजिनार्दनेति कृपालुत्वं उक्तं त्वं कृपालु र्वयमार्ता आर्तानां दुःखनिवारणे तदसिद्धेः गृहत्यागे हेतुः त्वदुपासनाशाः यतः सर्वसंगपरित्यागेन योगिन इव निवृत्ताभिमानतया तवोपासनं कर्तुमागताः आशा नो छेतव्येति । अन्यथा तव प्रतिज्ञाभंगोऽपि भविता । "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यह"मिति त्वयैवोक्तं अतो दास्यं देहि । यद्वा कीदृशी र्वसतीस्त्वदुपासनाशा त्वदुपासंस्तव समीपस्थितिस्तस्या नाशा यासु ताः गृहस्थित्या तदसिद्धिरित्यर्थः । यद्वा कीदृशी र्वसती त्वदुपासनां त्वत् सेवनरूपां भक्तिं स्यति तनुकुर्वन्ति तुच्छीकुर्वन्तीत्यर्थः । शो तनु करणे धातोरिति । ननु गृहस्वामिं विहाय दास्यं किमिति प्रार्थ्यते । तत्र स्वीयार्त्तिं निवेदयन्त्यस्तच्छान्तिहेतुं दास्यमेवाभिलष्यन्त्यः आहुः त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकामतप्तात्मनां तव सुन्दरं स्मितपूर्वं निरीक्षणं तेन तीव्रोऽसह्यैव यः कामस्तेन तप्तः आत्मा मनो यासां नः, यद्वा हे सुन्दरस्मित त्वत् त्वत्तो हेतोः निरीक्षणं तवावलोकनं तेन तीव्रो अनिवार्य्यो यः कामस्तेन तप्तः आत्मा क्षेत्रज्ञो यासां तासां, तव कपटस्मितेन मोहितानां स्वदृष्टान्तेन त्वयि शुद्धभावविजानतीनां इदानीं तव धर्मोपदेशेन औदासीन्यं जानतीनां अत एव रमणभिन्नान्यत्र निस्पृहानां नोऽस्माकं दास्यं देहि दास्यं दत्ते त्वयि व्रजेश्वरादिर्नासूयां करिष्यति । दास्येऽस्माभिर्लब्ध्ये सति पत्यादिरपि नासूयां करिष्यति इति भावः । यद्वा हे वृजिनार्दन ये त्वां प्रपन्नास्तेषां पापनिरसनं वयं तु तव पादमूलं प्रपन्नास्तथाप्यस्मासु कामकृतस्ताप इदमेव चित्रं येन पापेन पत्यादि

[illegible] जातस्तत्पापं तव चरणदर्शनेन बिनष्टं । यतः पापमूला गृहा एव त्यक्ताः सम्प्रति तव सुन्दराभ्यां स्मितनिरीक्षणाभ्यां जातो यस्तीव्रोऽप्रतीकार्यः कामस्तेन तप्तात्मनां पीडितचित्तानां हृद्रोगस्य त्वमेव निदानं तस्य निबर्तकमौषधं त्वद्दास्यमेव दशाम्यबस्थायाः प्रागेव देहगृहादिकं दुःखनिदानमिति ज्ञात्वा प्रागेव त्यक्तम् । त्वं तु कामतापं दददपि त्याजयितुं न शक्यः अतो दास्यं दत्वाऽस्मान् रक्षेति प्रार्थना । हे पुरुषभूषण पुरुषाणां सखानां गोपानामलंकरण सर्वदा सखिभिः सह बिहृत्य पुष्पपल्लबगैरिकादिभिस्तानलंकरोषि तथैब कदाचिदस्मानप्यलं कुर्विति भावः । यद्वा हे पुरुष ! अस्माकमन्तर्यामिन् अस्मासु जातां पीडां जानिषे अतो निवर्तय । हे भूषण वयं भूष्या त्वं तु भूषणं अतस्त्वमस्मान् भूषयेति । दास्यस्तु स्वामिसेवया लब्धप्रसादाः अकुतो भयाः सत्यो विचरन्ति अतो दास्येनालं कुर्विति प्रार्थना ॥३८॥

बीक्षालकावृतमुखं तव कुण्डलश्री-
गण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम् ।
दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य वक्षः
श्रियैकरमणं च भवाम दास्यः ॥३९॥

ननु पूर्वं पादरजसेव्यत्वेन प्रार्थितं, इदानीमन्यदपि "भिक्षु पादप्रसारिका" न्यायेन प्रार्थयन्त्यो व्याजेन दास्यमेब स्वीकुर्वन्तीति ज्ञात्वा पृच्छन्ति गृहत्यागे को वा दोषो दास्यं भवामः, कीदृशं मुखं कुण्डलयोः श्रीर्ययोस्ते गण्डस्थले यस्मिन् अधरे सुधा यत्र तत्र पुनः कीदृक् हसितं हासस्तद्विलसितोऽवलोको यस्मिन् ततः प्रथमं तासां मनसि सुखमेव मुख्य-

स्वाद्यं तेनाभिप्रेतमतस्तदेब वर्णयन्ति—अलकावृतमिति । अलिकुलावृतनीलोत्पलसादृश्येन वर्णितं मकरन्दाधिक्येन पेयत्वमभिप्रेतं कुण्डलश्रीति पार्श्वद्वयं पीनयुगावृतत्वेन शोभातिशयः सूचितः गण्डस्थले स्वच्छत्वं द्योतितं, अधरसुधेति लोभाश्रयत्वं सूचितं, हसितावलोकमिति बिलासप्रकाशभरः सूचितः, भुजदण्डयुगं च बिलोक्य—कीदृशं दत्ताभयं भक्तेभ्यो दत्तमभयं येन स्वसामर्थ्येन गोबर्द्धनोद्धरणादिना "न त्रास इह वः कार्य" इति त्वयैबोक्तत्वात् बहुशोऽनुभूतत्वाच्च बिलोक्य कीदृक् श्रिय एकमेब रमणं रतिजनकं, यद्वा श्रिया शोभयास्माकमेब रमणमिति शोभातिशय उक्तः । मधुररसालम्बनमेतत्सर्वं दृष्ट्वा दास्यं स्वीकारं एतद्बेशेनाप्यलं किमुत समुचितमेतत्सर्वमिति । गृहस्वाम्ये न किंचित् दास्ये सर्वमेव सम्पत्स्यते—अतएवामूल्यक्रीताः दास्यो भवामेति । यद्वा अस्वर्ग्ययशस्यं च फल्गु कृच्छ्रं भयाबहमिति च तत्रोत्तरं अन्यत्रौपपत्यं जुगुप्सितमेव इह तु न यत एते दोषाः गुणत्वेन परिणताः नवभृत्येसु स्वर्गापबर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिन इति तव मुखदर्शने जाते स्वर्गस्य हेयत्वदर्शनादिष्टापत्तिरेब मुकुरस्थानीययो गण्डयोः स्वप्रतिबिंबदर्शनाय स्वीकृतत्वात् जात्वेबौपपत्यं स्वीकृतं । अत्रापि देबभोग्यायाः सकाशात् उत्कृष्टाया अधरसुधायाःभोग्यत्वदर्शनात् औपपत्यस्वीकारः हसितावलोकमिति । अन्यत्रौपपत्यं यशसोः मलिनत्वं भवति । अत्र तु हसितमप्युज्वलं अबलोकोऽप्युज्वलः अयशसोप्युज्वलत्वं अतः स्वीकृतं अन्यच्च फल्गु स्वल्पकालभोग्यमपि अभयदेन भुजद्वन्द्वेन रक्षितत्वात्स्वीकृतं कृच्छ्रं दुःसाध्यमपि श्रीसेव्यत्वात्स्वीकृतं बहुदोषाक्रान्तत्वेन प्रतीतमप्यौपपत्यं अस्मच्चित्ताभिप्रायेण सुखात्मकमेब प्रतीयते । अन्येषां जुगुप्सितमप्यस्माकमजुगुप्सित-

मेवेति। गृहोचितं सुखं स्वर्ग्यं यशस्यं बहुकालभोग्यं सुखसाध्यं "स्वर्गापवर्ग-श्रजुगुप्सितं च एतादृशमप्यस्माभिः त्यक्तम्, नरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिन" इत्युक्तत्वात। अयशस्यं यशो हि स्वर्गस्य मूलं "यावत्कीर्त्तिर्मनुष्यस्य पुण्या लोकेषु गीयते। ताब-त्प्रमोदते स्वर्गे" इति स्वर्गहेतुत्वात् यशोपि त्यक्तम्। अस्व-र्ग्यं स्वर्ग्यस्याकाम्यमानत्वात्। अन्येऽपि भक्ताः "स्वर्गापब-र्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिन"त्युक्तात्। यद्वा फल्गु स्वल्प-कालभोग्यमपि स्वीकृतं बहुसुखपूर्णत्वात्। कृच्छ्रं दुःसाध्य-मपि स्वीकृतं त्वत्पदप्राप्तिहेतुत्वात्। जुगुप्सितमपि स्वीकृतं पत्यादिभिरस्मत त्यागस्य करिष्यमाणत्वात्। बहुकालभोग-स्यापि परिणामबिरसबत्वात् तदुक्तं "न नाकपृष्ठ"मिति। अन्यासां पतिव्रतानां षट्दोषाक्रान्तमप्यौपपत्यमस्माकं षड्गुण-युक्तमेव जातं, तदुक्तं "क्वचिद्गुणोऽपि दोषः स्याद्दोषोऽपि बिधिना गुण" इति, यथा ब्राह्मणस्याध्ययनमध्यापनं च गुणः शूद्रस्य तु दोषः एबमन्यासां दोषवुद्ध्यौत्पत्तौ बिमुखानाम-प्रवृत्तौ सत्यां तब भजनो धर्म इति जानतीनामस्माकमौप-पत्यं गुण एव अन्याभिरनास्वादितत्वाद्दोष एबातस्तास्वेबमय-मुपदेशः। अत इयं बिभीषिका नास्मास्ववकाशं लभत इति बाक्यार्थः यत तब दास्यं परमपुरुषार्थसाधकं न हि परम-पुरुषार्थसाधकं पापसाधकं भबति। मुखादिवीक्षणरूपेन मूल्येन क्रीताः दास्यो भबाम उपभोगस्तु भबन्प्रसादलभ्य एब, तस्मिन् जाते किमलभ्यं इति मुखादिदर्शनेनास्मदौपपत्यव्य-बसायं दृढीकृत्येदानीमस्वर्ग्यमित्यादि बिभीषिकामुत्पादयन् किं न लज्जसे इति भावः ॥३६॥

का स्त्र्यङ्ग ते कलपदायतमूर्च्छितेन,
सम्मोहिताऽऽर्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम्।
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं-
यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन् ॥४०॥

ननु यथाहं लोकसंग्रहपरस्तथा भबतीभिरपि सदाचारः प्राल्यः प्रमाणपंक्तिसिद्धमप्येतद् व्यबसितं न कार्यमिति चेत्तत्र सामर्षमाहुः। अङ्गेति सम्बोधनेनैतत ज्ञाप्यते यदि त्वमस्मद्भूयोऽभविष्यस्तवैवं नाबदिष्यः अतोऽस्मदार्त्तिमज्ञात्वै-बोपदिशसि परोपदेशे पाण्डित्यमिति स्मृतेः। त्रैलोक्यां सा का स्त्री या आर्य्यचरितान्निजधर्मान्न चलेत्। निज धर्मं न परीत्यजेदित्यर्थः। न काचिदित्यर्थः ते कलपदायता बेणुगी-तेन सम्मोहिता कलानि अव्यक्तानि मधुराणि गीतेन तेन मोहिता यदुक्तम्–देव्यो बिमानगतयः स्मरनुन्नसारा" इति। त्वदुद्भा-वितबेणुगीतेनैब यदा धर्मत्यागस्तदा तव रूपदर्शनेन धर्म-बिपर्ययो भबतीति न चित्रमाहुः। त्रैलोक्येति त्रैलोक्यस्थ-सौभगं सौन्दर्यं यस्मिन् त्रैलोक्ये सौभगं यस्मात इति वा इदं प्रत्यक्षसिद्धं रूपं निरीक्ष्य यत् यस्मात् मोहिताः पुरुषा-ऽपि चलिताः श्रीरघुबीरस्य सौन्दर्यं दृष्ट्वा दण्डकारण्यबा-सिनो मुनयोपि मोहिताः तदुक्तं पाद्मे "पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यबासिनः। दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन्सुविग्र-हम्। ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्नाः समुद्भूताश्च गोकुले"। प्रत्यभि-ज्ञया संस्कारबशाः एव बदन्तीति ज्ञायते। यद्वा इदं रूपं तबापि बिस्मयजनकं तदुक्तं "बिस्मापनं स्वस्येति", यद्वा हे कलपद कं सुखं लाति गृन्हाति पदं स्वरूपं यस्य, बेणुबा नेन

यत्सुखं भवति तत्तावत् स्वस्वरूप एव निमग्नः भवति पश्चादन्यत्र संचरति । हे अमृत वेणुगीतसम्मोहित यतः सदैव वेणुं वादयसे न कदाचिद्विरमसि अस्मास्वेव केयं शङ्का यतो वेणुगीतेन त्वमपि मोहितोसि, यद्वा हे अमृतवेणुगीत हे मोहित इति पदद्वयं मोहितत्वात्सात्विकभावोदयः। अत एव तन्वितमनुकूलं वदन्नस्मान्निवारयसीति न चित्रं यत् यस्मात् विजातीया अपि गोद्विजद्रुममृगाः गोशब्देन वृषभ-वत्स-वत्सतरी प्रभृतयो ज्ञेयाः द्विजाः पक्षिणः तदुक्तं "प्रायो बताम्ब विहगा मुनय" इति। द्रुमाः "अहो अमी देववरेति" श्रीमुखेनोक्तम। "धन्याः स्म मूढमतयोपि हरिण्य" इतिभावविशेषोदयेन पुलकान् अस्मत्सदृशीनां भाव--विशेष--ज्ञापकान् धर्मान् अविभ्रन्, किंच वेणुगीतेन मोहयित्वा निजधर्मस्त्याजितः मोहितत्वात्सदाचारपरित्यागेनास्मासु दोषः स्थाप्यते, धर्मत्यागस्य त्वयैव कारितत्वात् त्वय्येव दोषमावहेदिति शास्त्रफलं प्रयोक्तरीति-न्यायेन अन्यच्च। वयं तु "श्यामसुन्दर ते दास्य" इति प्रतिश्रुतमर्थं संस्मृत्य दास्यो जाताः दासीनां स्वामिवचनात् साध्वसाधुकरणेन गुणदोषौ स्वामिनि स्वामिसेवाव्यग्राणां दासीनां श्रवणादिहेतुचतुष्टयवद्धमूलसंनिकर्षः स्वत एव संपत्स्यते इति श्रवणाद्दर्शनादित्यस्याप्युत्तरं दत्तमिति वेदितव्यं त्वंतु "मयेमा" इति प्रतिश्रुतं दातुमस्वीकुर्वन् प्रतियातेति प्रसह्य दुःखवारिधौ मज्जयसीति कस्मादिति न जानीम इति भावः ।।४०।।

व्यक्तं भवान् व्रजभयार्तिहरोऽभिजातो देवो यथाऽऽदि पुरुषः सुरलोकगोप्ता। तन्नो निधेहि करपङ्कजमार्त्तवन्धो तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किङ्करीणाम् ।।४१।।

एवं तदुक्तं सर्वमनूद्य तस्यावतारकार्यं कथयन्त्यः परमार्त्ताः स्वकीयार्तिशमनं प्रार्थयन्ते व्यक्तमिति, प्रतियातेति उक्तम । क्षते क्षारमिवासहमानाः स्वमुखेन संनिकर्षमेव याचन्ते व्यक्तमिति। एतत् व्यक्तं निश्चितं भवान् व्रजजनार्तिहरोऽभिजातः। विश्वपालनायावतीर्ण इति केचिद्वदन्ति। तत्र विश्वपालनमवतारान्तरेणापि भवति व्रजजनार्तिहरणप्रयोजनः सन्नवतीर्णः गोवर्द्धनोद्धरणादिना सर्वेषां बाह्याभ्यंतरार्तिहरणे जातेऽस्मदन्तरार्तिहरणाभावेन त्वयि वैशम्यं भविष्यतीति । प्रीतिकर्त्तृषु आर्त्तेषु सत्सु त्वयि प्रीतिं कोऽपि न करिष्यतीति भावः। भूभारहरणं तु तवेच्छयैव भवेत्। ईश्वरत्वात् सामन्यतो व्रजजनार्त्तिहरणमस्मत्सम्बन्धपुरस्कारेण मुख्यमस्मादार्त्तिहरणमेव प्रयोजनम् । अस्मदार्तिहरणे मधुररसरक्षा भवेत् मधुररसे रक्षिते परमानन्दपूर्णं तव स्वरूपं सुरक्षितं भविष्यतीतिभावः । किं न्यायमाहुः यस्तु यस्मिन् प्रपन्नो भवति स तु तेन पाल्यो रक्षणीयश्च भवति। तद्यथा-आदिपुरुषः श्रीनारायणः वामनादियज्ञावतारैः सुरलोकगोप्ता, सुरान् देवान् तत्ताल्लोकांश्च गोपायति रक्षति । देवः सर्वपूज्योऽपि मोहिनीरूपेण दैत्यान् वंचयित्वा देवेभ्योऽमृतं दत्तवान्। यद्यपि परमेश्वरस्य सर्वत्र समस्य वैषम्यं नास्ति तथापि स्वकीयेषु प्रीतिं प्रकटयता तथा कृतम्। दिव्यते क्रीडति इति देवः क्रीडाप्रधानः सापेक्षश्च कथमस्मान वंचयसि । त्वन्तु व्रजेश्वरपुत्रत्वात् सेव्यो वयं सेवकयः। ननु कथमार्त्तिहरणं भवेत् तत्र विशेषेण कथ्यतामिति चेत्तत्राहुः । तदस्मात्तावत करपङ्कजं आर्तिहरणशीलत्वात् अति-शीतलत्वान्नोऽस्माकं मन्मथाग्निज्वालावलीढत्वात् नस्तनेषु तापशान्त्यर्थं निधेहि कामज्वरस्तु स्त्रीणां स्तनयोरेव तिष्ठति। हृदयशैत्ये जाते सति शिरस्सु करपङ्कजं

निधेहि स्थापय अस्मदार्त्तिनिग्रहे तवावतारप्रयोजनजातमिति प्रसिद्धिं करिष्यामः। ननु बाल्यात्प्रभृति नैष्ठिकब्रह्मचारी अहम् भवतीनां कुचस्पर्शाद्बिभेम इति चेत्तत्राहुः किंकरीणामिच्छति किंकरीकुचस्पर्शे कस्यापि न भयं न च संकोच आबाल्याद्व्रतस्य ब्रह्मचर्य्यस्य च फलं भविष्यतीवेति भावः। हे आर्त्तबन्धो वयमार्त्तास्त्वं बन्धुरार्तिनाशनः त्वयि बन्धौ विद्यमानेपि चेदार्त्तास्तदा कृपालुत्वं न सेत्स्यते। यद्यपि त्वं निःकामस्तथापि त्वया परमार्त्तो गजेन्द्रो यथोद्धृतस्तत्रार्त्तबन्धुप्रसिद्ध्या तव कीर्तिर्जातैव ततः स्वकीर्तिरक्षार्थमधुनापि नोऽस्माकं शिरसि हस्तपंकजधारणेन स्तनयोस्तापशान्त्या च औचितीं विधत्स्व। यद्वा भवान् व्रजजनार्त्तिहरः व्रजस्य जनानां चार्त्तिहर इति व्यक्तं सर्वलोकेषु प्रसिद्धम्, कालियदमनादिना अभिजातः अभिजातेनास्मानवेदय व्रजेश्वरपुत्रत्वात्। ननु भवत्यो न तापतप्ता आगता किन्तु चापल्यात् स्त्रीस्वभावादत्रागता इति चेत्तत्राहुः ततः स्तनेषु शिरस्सु च करपङ्कजं निधेहि हस्तंन्यस्य प्रतीयतां स्वयमेव तापोऽभिव्यक्तो भविष्यतीति भावः। किंकरीणामिति अस्मत्तापानपगमेऽन्योपि तव कैंकर्य्यं न करिष्यतीत्यर्थः। एवं प्रार्थनेन व्यञ्जनयाङ्गसङ्गः स्वयमेव प्रार्थितः ॥४१॥

श्रीशुक उवाच—

इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः ।
प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत् ॥४२॥

एवं गोपीनां प्रति वचनेन निरुत्तरीकृतस्तासामार्त्तिप्रलपनेन द्रवसात्विकभावेन जातक्षोभस्तत्रापि किंचिदनुक्त्वेव यतवांस्ततः मुनीन्द्रस्तद्दशाभिज्ञः कथयति इतीति। इत्यनेन प्रकारेण श्रीकृष्णोक्तवञ्चनानां तदनुरूपोत्तरैः प्रतिष्टम्भेन तासां

विक्लवितं प्रणयरोषगर्भसदैन्यं स्वाभिलाषपूर्णप्रार्थनं श्रुत्वा समनन्तरं प्रहस्येति मया तु धर्मोपदेशेन भयप्रदर्शनेन चैतासां भावपरिक्षार्थमन्तः स्नेहपूर्णैर्बहिरौदासीन्यव्यंजकैर्वचनैः कोपकारिताः, मदभिप्रायमनालोच्य सकाकुदैन्यमावेदयन्ति अतः परमावहित्थयालमित्युच्चैर्हास्यं कृत्वा, हासस्तु चित्तविकारव्यञ्जकः। तदुक्तं रसार्णवे "निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथमविक्रियेति"। हासेन स्वहृदि स्थितं भावं लक्षयित्वा सदयं यथा भवति तथा, दया तु निरुपाधिपरदुःखप्रहानेच्छा तत्सहितं यथा तथा आत्मारामोऽपि आत्मारामत्वं तिरस्कृत्याक्षीन्द्रियेनात्मना सुखविशेषमनुपलभमानोपि ता अरीरमत् रमयामास। कीदृशो योगेश्वरेश्वरः। अन्ये हि योगिनो लब्धभगवत्प्रसादाः परिचिताद्यभिज्ञा भवन्ति। अयं तु तेषामपीश्वरः। गोपीनां चित्तवृत्तिं जानन्नपि तासां तथाविधं वाचं श्रोतुमिच्छन्नौदासीन्यं प्रकटितवान्। यद्वा योगः संयोगस्तस्येश्वराः महाविलासिनः परमशृङ्गारिणः तेषामपीश्वरः परमविदग्धावधिर्महाशृङ्गारीत्यर्थः। औदासीन्यव्यंजनेन विप्रलम्भमुत्पाद्य परिपूर्णं मधुररसमनुभवितुं तथा कृतवानितिभावः। यद्वा अन्ये योगिनो योगजधर्मप्रत्यासत्यान्येषां कायेषु प्रविश्य स्वशरीरमन्तरेणापि तदीयैरेव शरीरेन्द्रियैः सुखमनुभवन्ति, अयं तु न तथा किन्तु शरीरेणैव सर्वसंनिहितः सन् यूथशस्ता बह्वीः रमयामासेति चित्रं अत एवाग्रे वदिष्यति तासां मध्ये द्वयो र्द्वयोरिति शक्तिविशेषेण लाघवेन सर्वसंनिहितत्वं सूचितमिति। विक्लवितमिति—श्रवणेनात्मारामतया निरोधः सूचितः। अयं तु दक्षिणो नायकः तदुक्तं रसार्णवे "नायिकास्वप्यनेकासु तुल्यो दक्षिण उच्यते"। प्रहस्येति "शुचौ हास्यस्तथा प्रेयानद्भुतश्च सुहृद्वरा" इति। एतेषां मधुररसपोषकत्वं

सूचितम् । किंच भवतीभि र्ममौदासीन्यमाकलय्यैवं प्रत्युत्तरितं तदौदासीन्यमात्मना क्रोडीकृतम् । तद्वयमपि त्यक्तमपि प्रहस्य गोपीः बहुशोऽनुभूतमपि श्रीकृष्णानन्दं गोपायतीति अनुरागोत्कराठ्यं दर्शितम् । किंच आराध्यगुणैराराधका आकृष्यन्ते । तथा श्रीकृष्णोपि व्रजसुन्दरीणां प्रेमाकृष्टः आत्मारामतां शिथिलीचकारेति तात्पर्यार्थः ॥४२॥

ताभिः समेताभिरुदारचेष्टितः
प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिरच्युतः ।
उदारहासद्विजकुन्ददीधिति-
र्व्यरोचतैणाङ्क इवोडुभिर्वृतः ॥४३॥

आदौ युगपदेव तासां बह्वीनां सङ्गमं बर्णयन् अग्रे करिष्यमाणं दीर्घरमणं सूचयिष्यन् संक्षेपतो रमणशोभाबिशेषपुरस्कृतं कथयति । ताभिर्समिताभिः सह अच्युतः श्रीकृष्णो बिशेषेण अरोचत अशोभत बिप्रलम्भखिन्नायां यासां बिक्लबितं श्रुतवान् ताभिः पूर्वभावना-कलनात्तु दूरे स्थिताः इदानीं प्रहस्यतेतिभावः। आकलय्य समेताभिरन्तिकमागताभिः अच्युतो बिलासच्युतिरहितः। मानसे लीलायां सर्वमाकलितमेब। अन्यरसालम्बनैः सहाविनाभ्यो लीलाभ्यो बिशेषेणाधिक्येन रोचतेति। अन्यत्र लीला धर्मेण कृता अत्र तु धर्मिणा कृता लीला मधुररसभाबिता । अत एव बिशेषा उक्ता । सजातीयेभ्य एव न बिजातीयेभ्य इति । यद्वा पूर्वं रमणाधिकेन शोभितः कीदृक् उदारचेष्टितः । सर्बासां तासां युगपदेव संमानननिपुणं सर्वेन्द्रियास्वाद्यरसबिशेषभाबनानुभबयितुमुदारचेष्टितं कर-चरणादि-चालनं प्रेक्षणादिकं च यस्य । यद्वा उदारम-

बिधां सर्बासामेकजातीयभाबत्वात् । तदुक्तं रसार्णवे "उक्तबाक्ये गुणोत्कर्षप्रतिभानमुदारतेति" । पुनः कीदृशः उदारहासद्विजकुन्ददीधिति उदारः सर्वतः प्रशंसनशीलो हासो येषु, यद्वा उदारस्तासां भावोद्बोधनदक्षो हासो येषु ते द्विजाः-दन्तास्तेषां कुन्दकुसुमवत्दीधितिः यस्मिन्, यद्वा उदारः प्रकटो हासो द्विजानां दन्तानां कुन्ददीधितौ यस्य, दन्ताः कुन्दकुसुमरूपमीयते । तेषामुपमानायोग्यत्वमालक्ष्य हसंतीति भावः । हासस्योज्वलत्वेनोज्वलरसस्य पल्लबितत्वं सूचितम् । कीदृशीभिः प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिः प्रियस्य प्रीतिविषयस्य कृष्णेक्षणं तत्कर्तृकं तत्कर्मकं वा तेनोत्फुल्लानि अतिविकसितानि मुखानि यासां ताभिर्वृतः व्यरोचत एकादश रसालम्बनेभ्योऽधिकशोभत तत्रानुरूपदृष्टान्तमाहुः । उडुभिर्नक्षत्रैर्वृत एणांकश्चंद्र इव अत्र श्रीकृष्णो भूष्यस्तास्तु भूषणं एवं परस्परं भूषणं भूष्यत्वं नित्यसंनिहितत्वं च सूचितम । किंच एणांक इति पदेनोपादेये सकलंकत्वं व्यञ्जितम । वहुषु प्रेम युक्तत्वान्नैकनिष्ठत्वं इदमेव कलङ्कत्वेनोच्यते । गोपीनामेकनिष्ठत्वान्निःकलङ्कत्वमिति निःकलंकाभिः सकलंकस्यापि तस्य कलंकाच्छादनं कृतम् ताभिर्वृतत्वात् एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणैरिवाङ्कः इति प्रसिद्धेः ॥ ४३ ॥

उपगीयमान उद्गायन् वनिताशतयूथपः ॥
मालां बिभ्रद् बैजयन्तीं व्यचरन्मण्डयन् वनम् ॥ ४४ ॥

पूर्वं श्री मुखेनोक्तं दृष्टं वनमिति आदौ मानसलीलायां विलासाधिकरणत्वेन वनस्य विचारगोचरक्षतत्वात विहारमाह उपगीयमान इति । ताभिरुप समीपे गीयमानः पूर्वं कृष्णसम्मानितानामनुरागाधिक्येन गानं तदेव श्रीकृष्णगानोद्दीपकं

जातमिति। अत एव श्रीकृष्णनिष्ठांरूपगुणलीलास्ताभिर्गीय-
माना श्रुत्वा स्वयमप्युच्चैर्गायन्, तासां सर्वासां रूपगुणोत्क-
र्षप्रबन्धत्वेन गानं कुर्वन्, कीदृशः वनिताशतयूथपः वनिताः
उत्पन्ननवानुरागास्तासां शतानि असंख्यातानि यूथानि पातीति
सः ; नवानुराग एव षड्जादिस्वरालापंभेदाविशेषवानाविर्भूत
इति भावः। काश्चिदुपनिषदः काश्चिद्दंडकारण्यमुनयः काश्चिदु-
पासनासिद्धाः काश्चिद्देव्याः काश्चिद् नित्यासिद्धाः। एवं पंच
विधास्तासां भावसाम्यात् रसं पुष्णन् पातीति, पुनः कीदृक्
वैजयन्तीं पंचवर्णपुष्पग्रथितां नृत्योपयोगिनीं मालामुरसि बिभ्रत्
अयमभिप्रायः पंच विधा गोप्यः पंच विधा एव भूषणवसना-
ङ्गरागा। अतस्तत्सादृश्येन वैजयन्तीधारणमिति अनेन शोभा-
विशेषः सूचितः। किं वानर्घ्यमणिखचितभूषणसत्वेपि वृन्दावनो-
द्भवमाल्यधारणेन वनस्यापि सम्माननं कृतमिति भावः। अत
उक्तं वनं मंडयन् अलंकुर्वन् व्यचरत् विशेषेण विजहार। लता-
दिपिहित – गह्वरपरिशीलनेन रसमाधुर्यपराकाष्ठां प्रापयन्नलं
चकार पुष्पपल्लवादिनिर्मितासु शय्यासु प्रविष्य प्रियाः पुष्पा-
द्यलंकृतिं लम्भयन् ताभिरलंकृत वभूवेति भावः ॥ ४४ ॥

नद्याः पुलिनमाविश्य गोपीभिर्हिमबालुकम् ।
रेमे तत्तरलानन्दकुमुदामोदवायुना ॥ ४५ ॥

एवं कुंजेषु प्रविश्य माल्यैरेवालंकृतिं विधाय यमुना-पुलिने
विहर्त्तुं यत्न कृतवांस्तदाह: नद्या इति वनमध्ये वनितायूथाना-
मनन्तत्वात्संकोचेन विहृतं पुनः कालिन्द्याः पुलिनं विस्तीर्ण-
मालक्ष्य तत्रासंकोचेन रन्तुं गोपीभिः सह नद्याः कालिंद्याः
पुलिनमाविश्य रेमे, कीदृशं हिमवालुकं हिमजलसम्बन्धात् शीतल-
वालुका यस्मिन् तत् कोमलतया स्पर्शमात्रेण सुखहेतुत्वं सूचित-

मिति भावः। पुनः कीदृक् तस्याः कालिंद्यास्तरलैस्तरंगैरानन्दो
यस्मिन् चलत् तरंगानां भावोद्वोधनहेतुत्वं सूचितमिति
भावः। पुनः कीदृक् कुमुदामोदवायुनोपलक्षितायां रात्रौ विक-
सितानां कुमुदानामामोदः सौरभ्यं यत्र तेन वायुनेति अनेन
वायोस्त्रैविध्यमुक्तं श्रमापनोदं चोक्तम्। जुष्टमिति पाठे रमयां-
चकारेति अग्रिमश्लोकेनान्वयः। नदीतरलसम्बन्धेन वायौ शैत्य-
मुक्तं वननैकट्यात् मान्द्यं कुमुदसम्बन्धात्सौगंध्यं चोक्तमिति
वनादपि पुलिनस्य विलासाधिकरणत्वं भावोद्दीपकत्वं च सूचि-
तमिति भावः ॥ ४५ ॥

बाहु – प्रसार – परिरम्भकरालकोरु-
नीवीस्तनालभन–नर्म–नखाग्र–पातैः ॥
क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणा-
मुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयांचकार ॥ ४६ ॥

एवं पुलिनदर्शनेत भावोद्बोधने जाते ताभिः सह कृतां विला-
सपरिपाटीं वक्तुमाह बाहुप्रसारेति, बाहुप्रसारः पश्चात्परिरम्भ
आलिङ्गनं तदनु श्रीकृष्णेन कराभ्यामलकोरुनीविस्तनालभन
नर्म नखाग्रपातैः अलकोरुनीवीस्तनानां कामवशात्श्लथितानां
आलम्भनं स्पर्शस्तेन नर्म च नखाग्रपातैश्च एतैः, तदुक्तं रसा-
र्णवे "परिहासप्रधानं यत्-वचनं नर्म तद्विदुरिति" क्ष्वेल्या
प्रस्तोभनादिरूपया क्रीडया अधरपानदंशादिरूपया वा अव-
लोके यानि हसितानि तैः, यद्वा अवलोकैर्हसितैश्च रतिपति-
मुत्तम्भयन् अयमर्थः प्राकृतकामस्यैयं प्रक्रिया धातुपाता-
दूर्ध्वं न वर्द्धते, अयं त्वलौकिकः कामः धातुपातमन्तरेणापि
उत्तरोत्तरं वृद्धिं प्राप्नुवत् न विश्रांतो भवतीति भावः ॥ ४६ ॥

एवं भगवतः कृष्णाल्लब्धमाना महात्मनः ।।
आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि ।।४७।।

पूर्वं वनगमनमात्रेण विप्रलम्भमुत्पाद्य पुनः रसमाधुर्येण पोषितास्ततः स्वाधीनपतिका जाताः स्ववैदग्धीप्रकाशनेनात्मानं गरिष्ठं मन्यमाना रमणे मंथरां दृष्ट्वा सामान्यतः रसवृद्धये तदनु विप्रलम्भेन रसविशेषं प्रापणीया इति प्रकरणार्थं शुकोऽनुबदति एबमिति एवं पूर्वोक्तेन बाहुप्रसारेत्यादिप्रकारसम्माननेन कृष्णात् शृंगारसर्वस्वरूपात् कीदृशांत् भगवतः षड्गुणैश्चर्यं तिरोधाय रसैश्वर्येण बिराजमानात् एबमपि महात्मनः सर्बासु सुन्दरीषु मधुररसं चारयितुमुदाराचित्तात् कृष्णात् लब्धो मानः सौभाग्यं सम्पत् याभिस्ता अतो मानिन्यो भूत्बा भुवि सर्बासां स्त्रीणां मध्ये यद्वा भुबि ब्रजभूमौ सजातीयानां ब्रजसुन्दरीणां मध्ये आत्मानमप्यधिकं अहमेब प्रेष्ठा नान्येति स्वं स्वं मेनिरे श्रीकृष्णेन तथैब सम्मानितत्बात् मानिन्यो गर्वयुक्ता बभूबुरिति। तदुक्तं रसार्णवे-"दम्पत्योर्भाब एकत्र सतोरप्यनुक्तयोः । स्वाभीष्टाश्लेषबीक्ष्यादि निरोधी मान उच्यते" । "अहेरिब गतिः प्रेम्नः स्वभावकुटिला भवेत् । अतोहेतोरहेतोश्च यूनोर्मान उदञ्चति" "सौभाग्यरूपतारुण्यगुणैः सर्बोत्तमसमाश्रयैः । इष्टलाभादिना चान्यहेलनं गर्व उच्यते" गर्वस्यापि संचारिभाबान्तरगतत्बात्। संचारयन्ति ये भावं तेऽत्र संचारिणो मताः । उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति स्थायिन्यम्बुनिधाबिवेति" । गर्वस्यापि संचारित्वं स्थायिपोषत्बात् । "न बिना बिप्रलम्भेन संभोगः पुष्टिमश्नुते । काषायिते हि बस्त्रादौ भूयान् रागो हि बर्द्धतेति" ।। ४७ ।।

तासां तत् सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः ।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत ।। ४८ ।।

इति श्रीमद्भागबते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कंधपूर्बाधे भगबतो रासक्रीड़ाबर्णनं नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः ।

इति गर्बोपशमनद्वारा रसवृद्धिं कारयितुं श्रीकृष्णचिकीर्षितमंतर्द्धानप्रकारमाह तासामिति, यासां बाहुप्रसारेत्यादिना सम्माननं कृतं तासां तत्सौभगमदं सौभाग्यहेतुकं गर्वं बीक्ष्य"मदो रेतसि कस्तूर्यां गर्बो हर्षेभदानयो" रिति विश्वः मानं च स्वाधीनतां च बीक्ष्य मदमानयोः प्रशमाय सत्वे रासबिलासानुदयात् कृतेऽपि सम्मानने रसवृद्धिर्न जाता अत एव मदमाननिवृत्तौ सत्यां प्रसादाय विलासविशेषवैदग्धीप्रकटनेन प्रसादविशेषं दातुं तत्रैव गोपीमण्डल एवांतरधीयत तासामदृश्यो भूत्वा नत्वन्यत्र गतस्तासां प्रेमालापान् श्रोतुं रसोत्कर्षमापादयितुं तत्रैव दृष्ट्यगोचरत्वेन स्थितः । अयमेव प्रेतविवर्त्तो यत्पुरः स्थितोऽपि प्रेष्ठो न दृश्यत इति। यद्वा प्रशमाय सुखाय अग्रे सुखं दातुं प्रसादाय विशेषेणानुरञ्जनं कर्त्तुं यद्वा प्रशमाय मनोरथाप्राप्तिजनितपरितापसांतये मदमानसत्वे तदयोगात् ततस्तत्फलाय तासां प्रसादाय रमणस्य फलं तत्प्रसन्नता अग्रे वक्ष्यति च "न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजा" मिति । नन्वनेकयूथानां मदमानमेकेन कथं शक्यमिति चेत्तत्राह - केशवः कश्च इशश्च केशौ तौ वशयतीति केशवः । अनेन सर्वसामर्थ्यमुक्तम् । यद्वा प्रशस्ता केशा यस्येति केशवः, यद्वा कस्य सुखस्य उत्तरोत्तरशतगुणितस्येशं नियंतृ अवधिभूतं स्वरूपसुखमित्यर्थः । तनु वाति गच्छति प्राप्नोतीत्यर्थः । वा गतिगन्धयोरिति धातुः अन्तरधानं तु मदमाननिवृत्यै उपवनेत्वात्मारामतया आत्मारामोऽप्यरीरमत्

पूर्वमुपेक्षितैव तदुक्तं मानो
इत्युक्तार्थमेव आत्मारामता तु
मदश्चेति "हेतुजोपि शमं याति यथा-योग्य-प्रकासितैः। सामदान-
क्रियाभेदनत्युपेक्षारसान्तरै" रिति ॥ ४८ ॥

इति श्रीनारायणभट्टविरचितायां रसिकाह्लादिन्यां रास-
पंचाध्यायीटीकायां अन्तर्ध्यानवर्णनो नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥
॥ २९ ॥

———०———

श्री शुक उवाच

अन्तर्हिते भगवति सहसैव व्रजाङ्गनाः ।
अतप्यंस्तमचक्षाणाः करिण्य इव यूथपम् ॥ १ ॥

यद्यपि श्रीकृष्णान्तर्ध्यानतप्तानां गोपीनां तापेन श्रीशुकोऽपि संतप्तस्तथापि तन्मंडलस्थं श्रीकृष्णं तत्प्राणरक्षां कुर्वन्तं जानन् मनः समाहितं कृत्वा तद्ध्यानानन्तरजातां लीलां कथयितुमाह-उपेक्षया स्वाधीनतां संपादयितुं किंचिदप्यकथयित्वा सहसैवा-कस्मादन्तर्हिते, तासामन्तर्हितं यथा तथा चक्षुरविषयं प्राप्ते, भगवति रसैश्वर्यपूर्णे विलासस्य पूर्णतासिध्यर्थं तथा कृतवति सति व्रजांगना इति पदेन तासां तदेकजीवनत्वेन विरहतापाधिक्यं सूचितम्। कीदृश्यः संमानकर्त्तारं आत्मनो जीवातुभूतं अचक्षाणा अपश्यंत्यस्तदेकालम्बनत्वेन तद्विरहे तासां तापाधिक्येन दृष्टान्तः यूथपं महागजेन्द्रमपश्यन्त्य करिण्यो यथा तथा भवन्ति तथा ता अतप्यन्। अयमभिप्रायः रतिं गज एव जानाति यतः स्पर्शमात्रेण बद्धो भवति, करिण्योऽपि स्पर्शसुखं जानाति। अत एवान्योन्यादर्शने तापाधिक्यमिति एतासां रत्यात्मकस्तापो नित्यसिद्ध एव श्रीकृष्णदर्शनालिंगनालापैरानन्दरूपो भवति। स एवं विप्रलम्भे दुःखत्वेन प्रतीतो भवति न तु तथा शृंगारस्यो-भयरूपत्वात् ॥ १ ॥

गत्यानुरागस्मितविभ्रमेक्षितै-
र्मनोरमालापविहारविभ्रमैः ।
आक्षिप्तचित्ताः प्रमदा रमापते-
स्तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिकाः ॥ २ ॥

संयोगे स्वरूपमात्रानुभवः विप्रलम्भे यावल्लीलानुभव अत एव विप्रलम्भे यावल्लीलाक्रांतः कृष्णस्तासां मनसि प्राविशदिति-त्याह गत्येति ताः प्रमदाः श्रीकृष्णेसम्मानेन प्रकृष्टमदयुक्ताः, इदानीं तदुपेक्षिता तद् विरहे रमापतेस्तास्ता विचेष्टा पूतना-प्राणशोषणादिलीला जगृहुरनुकृतवत्यः, कीदृश्यः प्रमदाः श्री-कृष्णस्य गत्यादिभिराक्षिप्तचित्ताः पुनः कीदृश्यस्तदात्मिकास्त-न्मय्यः यद्वा स एवात्मा चेतयिता यासां अयं भावः संभोगा-त्मके शृंगारे भोक्तृभोग्यात्मका प्रतीतिरासीत्। विप्रलंभे प्रेष्ठ-स्यान्तप्रवेशात् ग्रहग्रहीतवत् स्वकीयचेष्टा विस्मिताः कृष्णात्म-कत्वेन तदीया चेष्टा गृहीतवत्यः, तदाकारान्तःकरणवृत्तौ जातायां सत्यां तस्यैव गतिर्गजस्यैव तथा अनुरागो मानसोभा-वस्तत्पूर्वकं स्मितं विभ्रमो विलासस्तत्पूर्वकानीक्षितानि तः मनो रमयन्ति ये मनोरमा-आलापगुह्यभाषणानि विहारः क्रीडा विशेषविभ्रमो विलासविशेषः, यद्वा विविधं भ्रमणं कुञ्जान्तरं गमनम्, यद्वा विभ्रमो नाम सुबलनं एतैर्व्यस्तैः समस्तैर्वा, तत्र गतिविहारौ कायिकौ स्मितविभ्रमेक्षितानि चाक्षुषा, आलापो वाचिकः विभ्रमो मानसः तदुक्तं रसार्णवे-"चित्तवृत्त्यनुवस्थानं शृंगाराद्विभ्रमो मत" इति। रमयन्तीति रमा व्रजदेव्यस्तासां पतेः पालकस्यात एव तासां प्राणरक्षार्थं तदात्मा जातस्तस्य एतैर्गत्यादिभिराक्षिप्तचित्ताः अपन्हवं प्रापितं चित्तं यासां ताः

पूर्वं स्वभावत एव प्रकृष्टमदा इदानीं बिरहे गतमदाः प्रशब्दो गतार्थे श्रीकृष्णलीलानुकरणं कृतवत्यः तदुक्तं रसार्णवे–"प्रियानुकरणं यत्तु मधुरालापपूर्वकैः । चेष्टितैर्गतिभिः वा स्यात्सा लीलेति निगद्यते"। ननु पूर्वमुक्तं भवाम दास्य इति प्रभोश्चेष्टानुकरणं नोचितं बिडंबनपर्यवसानत्वात् तत्राह तदात्मिकाः स एवात्मनि स्वरूपे यासां ताः, कृष्णात्मकत्वे जाते स्वानुसंधानं बिस्मृतवत्यः । एतासां च यदि स्वानुसन्धानं भवेत् तदायमुपालंभः स्यान्नतु तदस्तीति । अतः प्रियस्य लीलानुकरणं तापनोदार्थं उद्देशत उक्तं बिस्तरतोऽग्रे बक्ष्यति ॥ २ ॥

गतिस्मितप्रेक्षणभाषणादिषु –

प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्तयः ।

असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिका

न्यवेदिषुः कृष्णविहारविभ्रमाः ॥ ३ ॥

तदावेशे जाते सति किं वृत्तमित्यत आह गतिस्मितेति, प्रियस्य प्रीतिविषयस्य गत्यादिषु प्रतिरूढमूर्त्तयः प्रतिरूढा लीलाभिराबिष्टा देहा यासां ता अत एवाबलाः कृष्णग्रहगृहीतत्वात्पारतंत्र्यमुक्तम्, यतस्तदात्मिका कृष्णाबिष्टेन्द्रियदेहा अन्योन्यं कृष्णोऽहमिति न्यवेदिषुः निवेदितवत्यः । ननु भोक्तृभोग्यात्मके भेदे ।वद्यमाने कथमभेदोक्तिर्जातेति चेत्तत्राहः तदात्मिका इत्यनेन तासां देहेन्द्रियादिषु प्रविष्टस्य श्रीकृष्णस्यैवोक्त्या न तासामिति । यथा ज्ञानी आत्मसाक्षात्कारे जाते "ब्रह्माहमस्मि" इति बदति यथा च कर्मसु अस्मिन् कर्मणि त्वं ब्रह्मा भवेत्युक्ते स तु ब्रह्मास्मीति बदति यथा तत्र भावाभेदेनैव व्यवहारः तथात्रापि कृष्णाभेदप्रतीतिः तथोक्तं "अभेदोक्तिस्त्रिधा दृष्टा ज्ञाने भक्तौ

च कर्मणि । अत्राधिकारी स भवेत्यः फलेषु च भेदवानिति"। पुनः कीदृश्यः कृष्णविहारविभ्रमाः कृष्णस्यैव विहारः क्रीडा तस्यां बिभ्रमो यासां ता काचित् कृष्णवत् बिहरति तां दृष्ट्वान्यासां बिभ्रमो भवति । तदुक्तं रसार्णवे "प्रियागमनबेलायां मदभावससंभ्रमात् । बिभ्रमो गदहारादिभूषास्थानबिपर्यय:" इति कृष्णगत्यादिषु मूर्त्तयोऽध्यस्ताः मूर्त्तिषु गत्यादयोऽध्यस्ता एवमन्योन्यधर्माभिनिवेशात् बिलाशस्य पूर्णताऽविच्युतिश्च जाता, गतिः पादयोः स्मितं मुखे प्रेक्षणं चक्षुषि भाषणं वाचिकं रूपलक्षणमेतत् । सर्वोऽपि विभ्रमादयः लीलादयो वंधा अपि प्रियसंबंधिनः संयोगावस्थायामनुभूताः स्मृतिपथमतीर्णाः संतो विपरीताः जाता रसाधिक्ये स्त्रियः पुरुषत्वमापद्यन्ते इति वात्स्यायनः । यद्वा स्वगत्यादिषु प्रियस्य प्रतिरूढमूर्त्तयः, अत एव कृष्णविहारविभ्रमाः कृष्णविहारबिभ्रमश्चुंबनालिंगनादिविलासविशेषो यासां ताः, यद्वा कृष्णस्यैव बिहारः विगतस्त्रुटिता हारो यस्मात् तादृशो बिभ्रमो विलासो यासां ताः, यद्वा कृष्णस्यैवायं विहार इति विभ्रमो भ्रांतिर्याभ्यस्ताः कृष्ण एवायं विहरति इति परस्परं चेष्टितवत्यः यतस्तदात्मिकाः तन्मनस्काः असमापितवाक्या एवान्योन्यरसावहमिति निवेदितव्यः बिरह एव तासां तदात्मिकत्वं कृतवानितिभावनं ह्यभेदज्ञान तासां तात्विकं किं तु प्रेम्ना तस्मिन्नेव क्षणे तादात्म्यं जाते तात्विकं चेदभविष्यत् तदा श्रीकृष्णाविर्भावे जाते तथात्वमभविष्यत् अग्रे बक्ष्यति तं बिलोक्यागतं प्रेष्ठं प्रीत्युत्फुल्लदृशोऽवलाः । उत्तस्थुरिति उत्थानं न भवेत् । तथा चोक्तं गीतगोविन्दे "मुहरवलोकितमंडनलीला मधुरिपुरहमिति भावनशीलेति" ॥ ३ ॥

गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता
विचिक्युरुन्मत्तकवद् वनाद् वनम् ॥
पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहि
र्भूतेषु सन्तं पुरूषं वनस्पतीन् ॥ ४ ॥

तादात्म्यापन्नानां संचारिभावोदयेन दिव्योन्मादकृतं चेष्टितमाह गायंत्य इति संहता अन्योन्यमिलिताः सत्य बनाद्वनं गच्छन्त्य इतस्ततो बिचिन्यु अमृगयन् यस्त्वंतर्द्धानेन दुःखदबत्प्रतीयमानस्तममुमेव उच्चैगायन्त्यः दूरं गतमिति मत्वा निजार्त्तिज्ञापनार्थमुच्चैर्गानं, यद्वा कीर्त्तिः गायकेष्वति प्रीतीयुक्तत्बात् तस्येत्युच्चैर्गानं उन्मत्तावत् स्वार्थे क प्रत्ययः। निजाङ्गावगुण्ठनबिस्मृतिपूर्वकमन्वेषितवत्यः, न केवलमन्वेषणमपि तु पृष्टवत्योऽपि । तदुक्तं रसार्णवे-"उन्मादश्चित्तविभ्रांति बियोगादिष्टनाशतः । बियोगजेतु चेष्टास्युर्धाबनं परिवेदनम् । असंबद्धप्रलपनं शयनं सहसोत्थितम् । अचेतनैः सहालापो निर्निमिषस्मितोदयः"। इति उन्मत्तस्यैव तासामाचरितमाह – आकाशवत्, वहिरंतरमेकरूपमेव सन्तं पुरूषं पूर्षु शयनादन्तर्यामिनं । अत एव बनस्पतीन् महतो वृक्षान् पप्रच्छुः। अहो अमी देवबरेत्यादिना श्रीकृष्णोक्तं स्मृत्वा तेषु स्नेहातिशयस्य दृष्टचरत्बात् । वृक्षेषु प्रश्नः भूतेषु जंगमेषु वाहरिन्द्रियव्यापारयुक्तेषु वहिः संतं वहिरिन्द्रियवृत्याऽपरोक्षमुपलभ्य मानत्बात् । स्थावरेषु अन्तरं संतं यतः पुरूषं तेष्वंतरेव निविष्टं एते निधि पालका इब प्रत्यंक् वृत्ताय इति संभाव्य पप्रच्छुरिति । यद्वा आकाशबत् शून्यवत् उन्मादाः प्रपछुरिति । यद्वा भूतेषु स्थावरजंगमेषु अन्तरं संतं वनस्पतीन् वहिः पृच्छबत्य इति उन्मादादेबात्मबिवेकशून्याः जंगमान् पृष्ट्वा स्थाबराणि पृछन्तिस्मेत्यर्थ ॥ ४ ॥

दृष्टो वः कच्चिदश्वत्थप्लक्षन्यग्रोध नो मनः ॥
नंदसूनुर्गतो हृत्वा प्रेमहासावलोकनैः ॥ ५ ॥

एवं सामान्यतः प्रश्ने उन्मत्तातुल्यत्वमुक्ता. इदानीं ततः तामगृहीत्वा पृच्छन्ति दृष्ट इति, एते हि वैष्णबाः श्रीकृष्णं श्रुत्वा-यथार्थ कथयिष्यन्तीति मनसि विचिन्त्य पृच्छन्ति । भो अश्वत्थ भो प्लक्ष भो न्यग्रोध अश्वत्थस्य भगवद्विभूतित्वात् अश्वत्थस्य सर्ववृक्षाणामित्युक्तत्वात । प्लक्षस्यापि रुद्रबिभूतित्वात्, वटस्यापि ब्रह्मविभूतित्बात् । यद्यपि ब्रजदेवीनामिदमनुसंधानं नास्ति तथाहि उपनिषद्रूपाणां पूर्वसंस्कारवसाद्युक्तिरनुसंधेया । वो युष्माभिर्दृष्टः कच्चिदिति कोमल प्रश्ने, यद्वा वो युष्माकं प्रभुः संबंधवान् ननु दृष्टश्चेत्तर्हि तेन किं तत्राहुः प्रेमहासाबलोकनैः प्रेम्नान्तः प्रवेशः हासावलोकनाभ्यां हरणं अत एब न तस्य किंचिदप्यशक्यमिति भावः । नहि गोप्यं हि साधूनामिति प्रसिद्ध्या युष्मान् पृच्छामः भवद्भिरकथितान्यत्र गत्बाऽन्यान् प्रक्ष्याम इति ॥ ५ ॥

कच्चित् कुरबकाशोक नाग–पुन्नाग–चम्पकाः ॥
रामानुजो मानिनीनामितो दर्पहरस्मितः ॥ ६ ॥

ततोत्तरमप्राप्यात्मानमबज्ञातमिति मत्वा एते क्षुद्राः सद्सेव्य फलाः किं ज्ञास्यंतीत्यवज्ञयाऽन्यत्र गत्वा सुगन्धपुष्पात् कुरवकादीन् पृछन्ति । एते कुरवकादयः पंच कामबाणा द्रबपुष्पसंपन्नाः एतेषां पुष्पावचयनं कुर्वन् दृष्टो भविष्यतीति सम्भाव्यमाहुः । हे कुरबक हे अशोक हे नागकेशर हे पुन्नाग हे चंपक भवन्तः परोपकारस्वभावाः सर्बान् सुरभीकुर्वंतीतिष्ठन्ति । वो दृष्टः कच्चिदिति प्रश्ने कं पृच्छथेति चेत्तत्राहुः । रामानुजो गत

इति साक्षान्नामानुक्तिः प्रियत्वादीर्ष्यया वेति । ननु युष्माकं किं हृतं अथ च भवत्यो मानिन्यः कथं पृच्छथेति चेत्त्राहुः दर्पहरस्मितः दर्पो गर्वस्तं हरति स्मितं यस्य दर्पमेव सर्वस्वं हृत्वा गतः गर्वमूलको मानः गर्वे गते स्वत एव मानहानि र्जाता तदर्थं पृच्छते दृष्टश्चेत्तर्हि कथयतेति । गर्वलक्षणं रसार्णवे-“ऐश्वर्यमदतारुण्यकुलविद्याबलैरपि । इष्टलाभादिनान्येषामवज्ञा गर्व ईरितः” इति “य तु प्रेमानुबंधेन स्वातन्त्र्यं हृदयगमं । वध्नाति भावकौटिल्यं सोऽयं मान इतीर्यते” इति ॥ ६ ॥

कच्चित्तुलसि कल्याणि गोविन्दचरण प्रिये ॥

सह त्वालिकुलैर्बिभ्रद् दृष्टस्तेऽति प्रियोऽच्युतः ॥ ७ ॥

अश्वत्थादयस्त्वपुष्पाः कुरवकादयस्त्वफलाः एते पुरुषा अस्मत दुःखं न जानन्ति प्रियस्य विश्वासपात्राणि च रहसि तदनुवर्त्तिनश्च ज्ञापिते सति तस्य क्षोभश्चे ज्जायते तदा को वेद किं स्यादिति नोत्तरं दत्तवन्तः। तुलसी स्त्रीजातिः फलपुष्पाभावेति कृष्णप्रियास्ति इयं अस्मद्दुःखं ज्ञास्यतीति कृष्णदर्शनं संभाव्य पृच्छन्ति । हे तुलसि हे कल्याणि मंगलरूपे सदा सौभाग्यबति तत्र हेतुगर्भविशेषणं गोविन्दचरणप्रिये । गोविन्दचरणौ प्रियौ यस्याः, गोबिन्दचरणयोः प्रिया वा तस्याः संवोधनं, गोविन्देति गोकुलरक्षावद्धव्रतः इदमप्यस्मासु प्रापकमिति । लक्ष्मीतोऽपि तव सौभाग्यमधिकमस्तीति । तस्यास्तु बक्षःस्थलैक वसतित्वात्, अत एवालिकुलैरनुगम्यमानां त्वां बहु वल्लभामपि त्यजति एकबल्लभा अपि अस्मान् त्यक्तवान् । कीदृशः तव अतिप्रियः, यद्वा अतिक्रांताः प्रिया अस्मदाद्याः येन सः, यद्वा अतिक्रान्तं प्रियं रतिसुखं येन स्वतन्त्रत्वात् । बिलासच्युतिरहित अस्मांस्त्यक्त्वाऽधुना त्वया सह विलासं

करोत्येव अयं भावः यथा लक्ष्म्यां स्थितायामपि त्वय्येव तस्य प्रीत्यतिशयस्तथाऽस्मत्समक्षमपि त्वय्येव प्रीतिं करिष्यतेबातः किमर्थं गोप्यते कथने तब न कदाचित् क्षतिरतस्त्वया कथ्यतामिति ॥ ७ ॥

“मालत्यदर्शि वः कच्चिन्मल्लिके जाति यूथिके ।

प्रीतिं बो जनयन् यातः करस्पर्शेन माधवः ॥८॥

तत उत्तरमलब्धा विचारयन्ति इयं सापत्न्यादीर्ष्ययति न कथितवती श्रीकृष्णसमानादतिगर्वितेति मत्वाऽग्रे पुष्पलताः दृष्ट्वा एषु पुष्पाभरणैश्चाभिमानारहिता अतो नूनं कथयिष्यतीति संभाव्य माहुः मालतीति हे मालति हे मल्लिके हे जाति हे यूथिके वो युष्माभिरदर्शि दृष्टः कच्चित् तर्हि कथ्यतां सवृन्तपुष्पावचयं दृष्ट्वा ईर्ष्याकुलतया पृच्छतिकरस्पर्शेन युष्मत्पुष्पानां श्रीहस्तद्वाराऽवचयनेन वो युष्माकं प्रीतिसुखं जनयन् अनेन मार्गेण यातः । नखैरेब पुष्पच्छेदात् नर्मणा नखक्षतिरेवाभिव्यञ्जिता हेतुनेव पुष्पाबचयं सम्भावयन्ति माधव इति लक्ष्मीपतित्वात् । तस्याः चूडाबन्धार्थं पुष्पावचयः, यद्वा मा शोभा सम्पत् तस्याः पतिः, पुष्पमयस्वाङ्गं शोभासम्पादनार्थं पुष्पाबचयः, यद्वा माधवो मूर्त्तो बसंत ईवात एव पुष्पाबचय इति, यथास्मान् करस्पर्शालिङ्गनादिना सुखयित्वा वृजिनोऽर्णवे निक्षिप्य कुत्रापि गतस्तथा युष्मानपि करस्पर्शेन नखक्षतादिना प्रीतिं दत्वा कुत्रोऽपि गतः । यतोऽयं न दृश्यते, भवतीभिरपि बिरहदुःखमनुभूयतेऽत एब दुःखभराक्रान्तत्वान्नोत्तरदाने सामर्थ्यमस्तीतिभावः । एताः स्त्रीजातयोऽपि प्रीतिनिभृतमनसः स्वपराः किमिति कथयिष्यन्ति अफलत्वात् इति विचार्य एते चूतादयः फलैः परोपकारिणः

प्राप्ताश्च मुनय इव ध्यानपरा अत एतान् पृच्छामेति अग्रे गत्वा चूतादीन् पृच्छन्ति ॥८॥

चूतप्रियालपनसाननकोविदार-
जम्ब्वर्क-बिल्व-वकुलाम्रकदम्बनीपाः।
येऽन्ये परार्थभवका यमुनोपकूलाः
शंसन्तु कृष्णपदवीं रहितात्मनां नः ॥९॥

चूतेति-चूताम्रयोः रसभेदेन भेदः, कदम्बनीपयोः वर्ण-भेदेन भेदः, "नीपो धूलि-कदम्बे स्यादिति"-विश्वः। पराग-प्रधानो महापुष्पो नीपः कदम्बस्तुल्यप्रमाणपुष्प इति। प्रियालश्चारुबीजतयाख्यातः पनसः कटंकीफलः असनः पीतशालाख्यः "कोबिदारश्चमरिक" इत्यमरः। बृहत्पत्रं काञ्चनार इति ख्यातः जबादयः प्रसिद्धा एव मधूकनारिकेल-करीरपूगतालतमाल-प्रभृतयः ते सर्वे नोऽस्माकं कृष्णपदवीं शंसन्तु। ननु कृष्ण-सूचने को वास्माकं लाभो भविष्यतीति चेत्तत्राहुः परार्थ-भवका परार्थं परोपकारार्थमेव भवो जन्म येषां ते, भाविका इति पाठे परार्थमेव भाविकं मङ्गलं प्रसस्ताबरणमिति यावत् एषां ते "नित्यं प्रशस्ताचरणमप्रशस्तस्य बर्जनम्। एतद्धि मङ्गलं प्रोक्तं स्वयमेव स्वयं भवेत्"। पुनरपि कथनार्थं तेषां प्रशंसाय यमुनोपकूलाः यमुना भक्ति रूपा इव तस्याः जलेन सिक्ताः, अतो भक्ता एव श्रीकृष्णदर्शनार्थं यमुनाकूलबासिनः कृपालवश्चातः कथयन्तु। ननु स्वयमेव किमिति न मृग्यते किं प्रश्नेनेति चेत्तत्राहुः रहितात्मनां शून्यचित्तानां कन्दिशी-कानां स्वयमेवान्वेष्टुमशक्तानामित्यर्थः। यद्वा रहितो विर-हित आत्मा श्रीकृष्णो यासु तासां कृष्णेन त्यक्तानां दीनानां नः कृष्णपदवीं कृष्णप्राप्त्युपायं शंसन्तु। यथा भवद्भिः श्रीकृष्णः

प्राप्तस्तमेवोपायं कथयन्त्विति भावः ॥९॥

किं ते कृतं क्षिति तपो बत केशवाङ्घ्रि
स्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि।
अप्यङ्घ्रि सम्भव उरुक्रमविक्रमाद् वा
आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन ॥१०॥

इतोऽप्युत्तारमलब्ध्वा पदवीकथनेन दृष्टिपथमवतीर्ण-क्षितिं दृष्ट्वा रोमाञ्चितत्वात्त्वयैवावश्यं दृष्ट एव श्रीकृष्ण इति संभा-व्याहुः किं ते कृतमिति। हे क्षिति ते त्वया किं तपः कृतं, यतः परमसौभाग्यवत्यसि। ननु भवतीभिः कथं ज्ञातं तत्राहुः केशवेति कश्च ईशश्च केशो तौ वसयति, अन्यस्य का कथा प्रशस्तकेशयुक्तस्य वा तस्यांघ्रिस्पर्शेनोत्सवो यस्याः सा त्वं विभासि। तत्र लिङ्गं अङ्गरुहैस्तृणाद्यंकुरैरुत्पुलकिता रोमाञ्चि-ताऽतीव शोभसे। रोमाञ्चं दृष्ट्वा भावोत्पत्तिः सम्भाव्यते-भावमन्तरेण रोमाञ्चो न भवति। अंघ्रिस्पर्शमन्तरेण भावो-त्पत्तिर्न भवति। अतो नूनमंघ्रिस्पर्शो नास्ति तत्रोत्प्रेक्षन्ते अपीति सम्भावनायाम् अयमुत्सव इदानीमेवांघ्रिस्पर्शसम्भवः। एतावदेव न तत्कुतः नवनीतादपि कोमलांघ्रिस्पर्शमात्रादयमु-त्सवो न सम्भाव्यते। यतस्त्वं कोमलत्वादिगुणनिरपेक्षासि। अथवा नैतावत् इतः पूर्वं उरुक्रमविक्रमात् त्रैलोक्याक्रमणार्थ-माविष्कृतत्रिविक्रममूर्त्तेः पादेन सर्वाङ्गाक्रमणाद्धेतोरयमुत्सव इत्यपि न तदानीमीदृशशोभाया असंयते। आहो स्वित् पाद-स्पर्शमात्रजनितो न भवति किं तु ततः पूर्वं तवोद्धरणार्थ-माविष्कृतवराहमूर्त्तेर्भगवतः सर्वाङ्गेषु परिरम्भणमालिङ्गनं वा अयमुत्सवश्चरणसम्भव इत्यत्र सन्देहं नास्ति, कारणवि-

शेषं पृच्छामस्त्वं परमसुभगासि दुर्भगानामस्माकं कृपया पदवीं दर्शयति । ॥१०॥

अप्येणपत्न्युपगतः प्रियेह गात्रै-
स्तन्वन् दृशां सखि सुनिर्वृतिमच्युतो वः ।
कान्ताङ्गसङ्गकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः
कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः ॥११॥

एवं स्थावरेभ्य उत्तरं प्रलब्ध्वा जङ्गमान्प्रश्नकृतनिश्चया सत्यो हरिणीं दृष्ट्वा अरादेवस्थितां सख्येन विश्रम्य पृच्छन्ति । अप्येण-पत्नीति, हे एणपत्नि कृष्णसारपत्नि त्वमपि पतिसङ्गजं सुखं बिरहजं दुःखं जानासि अतः कथयेति । कदाचित् प्रियया सह उपगतस्त्वत्समीपे गतस्त्वया दृष्टः कश्चित् सेर्ष्यं कथयन्ति । किं कुर्वन् गात्रैः करचरणाद्यवयवैः दृशां सुनिर्वृतिं तन्वन् अन्यथानेत्राणां प्राणदस्यासिद्धेः । अन्यत्र आत्यंतिकसंनिकर्षाभावेऽत्यन्तकष्टसुखस्याप्रसिद्धेः हे सखीति सम्बोधनेन श्रीकृष्णबिषयकानुरागसम्भावनया विस्रब्धा पृच्छंति । सतां सप्तपदा मैत्री इति प्रसिद्धेः । अतो बञ्चनं तवानुचितं अच्युतो बिलासच्युतिरहितः प्रिययेति व्यञ्जनावृत्या कथयन्ति । कुलपते : गोकुलपतेः गोकुलनाथस्य, यद्वा गोपीकुलनाथस्य कुन्दस्रजः कुन्दकुसुममालाया इह गन्धो वाति आगच्छति । पूर्वं वैजयन्तीधारणमुक्तम् "मालां बिभ्रद्वैजयन्तीमिति"। इदानीं यया सहान्तर्हितस्तया बिरचय्य समर्पितत्वात् प्रीत्या कुन्दस्रजधारणमुक्तं सौगन्ध्यातिशयेन लिङ्गमाहुः कान्तेति कान्ताङ्गसङ्गकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः क्रीडा सैव तस्या अङ्गसङ्गेन लग्नं यत् कुचकुङ्कुमं काश्मीरं तेन रञ्जिताया गन्ध एव कुङ्कुमायितां ज्ञापयति । सात्विकभावोदयात् । तत्

क्षणमेव रचनाविशेषप्राकट्याद्वेति । यद्यपि कुन्दकुसुमगन्धात्यत्वं तथापि कुचगतकाश्मीरसम्बन्धेन सौरभ्याधिक्यं सूचितमिति । तदस्माकं सोढुमशक्यं त्वं तु सभाग्याय तया प्रियया सह बिलासं कुर्वन् दृष्टः सौरभ्यमाघ्रातं च तव तु निर्मत्सरत्वात्सव शुभमिति सेर्ष्योक्तिरिति ॥११॥

बाहुं प्रियांस उपधाय गृहीतपद्मो-
रामानुजस्तुलसिकालिकुलैर्मदान्धैः ।
अन्वीयमान इह वस्तरवः प्रणामं-
किं वाभिनन्दति चरन् प्रणयावलोकैः ॥१२॥

हरिणानां स्वभावतश्चाञ्चल्येन प्रदेशान्तरस्थितौ सत्यां परस्परं सम्मन्त्र्य एताः किमिति स्वानुभूतं कथयिष्यन्ति इति । फलपुष्पभारेण नतान् साधून् श्रीकृष्ण-सुतान् सर्वानेव परोपकारिणो मत्वा तरून् पृच्छति बाहुमिति, कुङ्कुमगन्धलिङ्गेन कयाचित् सह बिलसतीति निश्चित्य कथयन्ति-प्रियांसे यया सह बिहरति तस्या अंसे स्कन्धे स्खलनशङ्कया बामे बाहुमुपधाय संस्थाप्य बिलासभरमन्थरत्वात् इति । दक्षिणेन बाहुना गृहीतपद्मः, अन्यच्च तुलसिकायाः सम्बन्धिभिरलिकुलैरन्वीयमान अनुगम्यमानः तस्यास्तुलस्याः मकरन्दपानेन यो मदस्तेनान्धैः अनेनैतत्सूचितं वाहुसौरभ्यं प्रियासौरभ्यं पद्मसौरभ्यं तुलसीसौरभ्यं च एतत्सौरभ्यं चतुष्टयं लब्ध्वा समप्रदेशस्थिताभिः परपंक्तिभिरुत्प्रेक्ष्य बिलासभवझङ्कारश्रवणेन अलीनामनुमत्ततां सम्भाव्य प्रियाया सौभाग्यं तुलस्या सौभाग्यं अलीनामपि सौभाग्यं एतत् त्रितयं मनसि परिकल्य तरुणां नम्रत्वं दृष्ट्वा पृच्छन्तीति-हे तरवः बो युष्माकं प्रणामं प्रणयावलोकैः किमभिनन्दति अनुमोदते, पुष्पैः फलैश्चास्मदुपकारिण अस्मद्विलासापन्हुति-

कारिण इति मनसि बिचार्य युष्मान्स करोति । किं वा नवेति सकटाक्षप्रश्ने किं कुर्वन् । भवत्संनिधावेवं विहरन् अनभिनन्दनमेव । पुनः पुनः पृच्छा भावहेतुः । एतेन तस्मिन् कृतघ्नत्वमप्यारोपितं भवति । गृहीतपद्म इत्यस्यायमभिप्रायः प्रियाश्वासबायुसौरभ्यलोभेनापततामलीनां निबारणाय तरुषु सञ्चारणाय पद्मभ्रामणमुक्तम् । अतस्तन्निवारणव्यग्रतया युष्मत्प्रणामानभिनन्दनमेव निश्चितमिति । ननु पूर्वं चूतप्रियालेति प्रश्ने कृतेऽपि उत्तारमलब्ध्वा पुनरपि बृक्षेषु कथं प्रश्नः बिरहव्याधिव्याकुलितत्वात् पुनः प्रश्न कृत इति तदुक्तं "कामार्त्ता हि प्रकृतिकृपणा चेतनाचेतनेषु" अतः कथयत । भवांश्चः कथयिते विस्रब्धाः सत्योऽग्रेऽन्विष्याम इति भावः । रामानुज इति निर्भयत्वं चोक्तं कस्यापि न संकोच इत्यपि सूचितं मदान्धरिति मदान्धा एव तमनु गच्छन्ति बयं गतमदाः किमर्थाभि प्रयोजनं सेत्स्यतीति क्षणं निर्वेदालम्बिता बिरहव्याकुलितत्वात् ॥१२॥

पृच्छतेमा लता बाहूनप्याश्लिष्टा वनस्पतेः ।
नूनं तत्करजस्पृष्टा बिभ्रत्युत्पुलकान्यहो ॥१३॥

पुनरपि धैर्यमवलम्ब्य व्याकुलतया तरुनवगणय्य एते बेणुजातीकठिनास्तदनुकूलाः किमर्थं कथयिष्यन्तीति विचार्यस्त्रीत्वेनास्मत् दुःखाभिज्ञा एताः लताः कथयिष्यन्तीति सम्भाव्यान्योऽन्यसम्मन्त्रयन्त्यः कथयन्ति पृच्छतेति इमा लता पृच्छत किमिति बनस्पतेः पत्युर्बाहुनाश्लिष्टा अपि उत्पुलकानि विभ्रति अङ्कुराद्युत्पन्नालिङ्गनात् तत्करजैर्नखैः स्पृष्टा इति । नूनं निश्चितं प्रियायाश्चूडाबन्धार्थमबिचिन्वती तेन सङ्गतिर्जाता । अतः एता धन्या बयं तु दुर्भगा इति श्रीकृष्णस्पर्शमन्तरेण नैतादृक् पुल-

कसम्भव इति स्वानुभवं तास्वारोप्योक्तं इतः परमुत्तराप्राप्त्या विरता इत्यर्थः ॥१३॥

इत्युन्मत्तबचो गोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः ।
लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः ॥१४॥

पूर्वमुक्तं उन्मत्ताकवत्पप्रच्छुरयोग्येष्वपि प्रश्नान् अचेतनेषु प्रश्नस्यानौचितिं मन्यमाना लीलानुकरणं श्रीकृष्णप्राप्त्युपायं निश्चित्यानुचक्रुरित्याहुः इत्युन्मत्तेति इति, पूर्वोक्तप्रकारेणोन्मत्तस्येव बचो यासां ताः उन्मत्ताबचसस्ताश्च ता गोप्यः । भगबतो रसैश्वर्येण विराजमानस्यात एवावधीरिति । षड्गुणस्य तास्ताः प्रसिद्धाः पूतनाप्राणशोषणादिका लीलाऽनुचक्रुः यतः कृष्णान्वेषणकातरा इति मुख्यो हेतुरनुकरणे नतु स्वातन्त्रेणेति । लीलास्मरणमपि बिरहतापनिर्वापकं कृतम् । लीलाऽनुकरणेनेति चेत्तत्राह तदात्मिका स एबात्मनि मनसि यासां ताः, यद्वा तस्मिन्नेबात्मा क्षेत्रज्ञो जीवो यासां ताः, स एब प्राणरक्षक इति अयमर्थः तासामात्मा यदि स्वदेहे तिष्ठेत् तदा विरहाग्निना दह्येतैव तस्य शीतलतया मृताश्च तुल्ये श्रीकृष्णे स्थितत्वान्न दग्ध इत्यर्थः । एतासां देहा एव तदावेशात् । लीलाऽनुकुर्वति नत्वात्मा तस्य तु श्रीकृष्णात्मनि क्रोडीकृतत्वात् । अतो न किंचिदनुपपन्नमिति ॥१४॥

कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिबत् स्तनम् ।
तोकायित्वा रुदत्यन्या पदाहन्छकटायतीम् ॥१५॥

लीलाऽनुकरणमेव प्रपञ्चयति कस्याश्चिदिति लीलायास्त्रैविध्यं मानसी बाचकी दैहिकी लीला द्वये प्रतियोगत्वेन पूतनादीनां स्फुरणमित्यभि कथयति । पूतनायन्त्या पूतनाबदाच-

कृष्णायमाना अपि इति । बाचिरन्त्या कस्याश्चित् कृष्णायंती कृष्णायमाना अपि इति । बाचि-
रन्त्या कस्याश्चित् कृष्णायंती कयाचिद्दुक्तमहं पूतनास्या स्तनपाना-
क्यां लीलायां कथामहं कृष्णः कयाचिद्दुक्तमहं पूतनास्या स्तनपाना-
दीनामनुकरणं तथापि श्रीकृष्णमङ्के स्थाप्य सा यथा कृतार्था
अभूत् । तथैव पूतनायन्ती कृष्णायन्तीमङ्के स्थाप्य सुखमन्व-
भवत् । कृष्णस्पर्शमात्रापेक्षयेव पूतनानुकरणमिति भावः । पूर्वप-
दर्शनोक्तं अनुचक्रुस्तदात्मिका इति स एव तासामात्मा जातोऽतः
स्वातन्त्र्याभावात्, तासां प्राणरक्षार्थं तत्तथैव कृतं कृष्णेनेति
लीला तया सादृश्यार्थं प्रियसखीभिः पूतनाबदाचरितम् । यथा
ग्रहग्रहीतस्य स्वातन्त्र्यं नास्ति । ग्रह एव तस्या देहे प्रविश्य
स्वकीया एव चेष्टाः करोति तद्वदियं लीलेति एवमन्यत्राप्यु-
ह्यम् । सकटभङ्गलीलामाह अन्या काचिद्व्रजदेवी आत्मानं
तोकायित्वा सकटायन्ती सकटबदाचरन्ती । यदा पादेन अहन्
तु ताडितवती पादस्पर्शाशया शकटबदन्वकरोदिति भावः ॥१५॥

दैत्यायित्वा जहारान्यामेका कृष्णार्भभावनाम् ।
रिङ्गयामास काप्यङ्घ्री कर्षन्ती घोषनिःस्वनैः ॥१६॥

तृणावर्त्तलीलामाह दैत्येति, एका काचिद्दैत्यायित्वा तृणावर्त्त-
बदात्मनं विधाय, कृष्णाभेभावनामन्या जहार । कृष्णस्यार्भं
बाल्यं भावयति । काचित् हृतवती तृणावर्तस्य बक्षसि कृष्ण-
स्पर्शाशया तथा कृतवतीति तात्पर्यम् । "तावङ्घ्रियुग्ममनुकृत्सरी-
[illegible]न्तार्विति स्मृतिपथमबतीर्णा लीलामनुकुर्वन्ति । कापि
[illegible]णायन्ती घोषाः किंकिण्यादयस्तेषां निस्वनैः कृत्वा अंघ्री
[illegible]र्येति रिङ्गयामास । जानुपाणिभ्यां चलतिस्म ॥१६॥

"कृष्णरामायिते द्वे तु गोपायन्त्यश्च काश्चन ।
वत्सायतीं हन्ति चान्या तत्रैका तु बकायतीम् ॥१७॥

अन्यदप्याह बृन्दाबनप्रदेशे काश्चन गोपायन्त्यः बत्सपरूप-
मनुकुर्वन्त्यः, द्वे गोप्यौ कृष्णरामबदाचरिते । एवं सर्वाः ते
परिवृढौ कृत्वा यथा क्रीडितबन्तः स्मस्तद्वदेव ताश्चिक्रीडुः ।
अन्या काचित् कृष्णबदाचरन्ती बत्सवदाचरन्तीं हन्ति स्म
हननमन्वकरोत् । तत्र तासु मध्ये एका कृष्णबदाचरन्ती वकबदा-
चरन्तीं अहन् हननानुकरणमकरोत् ॥ १७ ॥

आहूय दूरगा यद्वत् कृष्णस्तमनुकुर्वतीम् ।
वेणुं क्वणन्तीं क्रीडन्तीमन्याः शंसन्ति साध्विति ॥१८॥

सख्यरसे कृतां लीलामनुकुर्वन्तीति आहूयेति । दूरे स्थिता
गां यथा कृष्ण आह्वयति तद्वत् । यद्वा दूरे व्रजे स्थिता गा व्रज-
देवी यथा वेणुनादेनाह्वयति तमनुकुर्वन्ती कृष्णबदाचरन्ती
वेणुं बादयन्ती सखीबदाचरन्तीभिः सह क्रीडन्ती । अन्याः
मित्रायमाणाः साध्विति शंसन्तिस्मः ॥ १८ ॥

"कस्यांचित् स्वभुजं न्यस्य चलन्त्याहापरां ननु ।
कृष्णोऽहं पश्यत गतिं ललितामिति तन्मनाः ॥ १९ ॥

दैहिकलीलामाह कस्यांचिदिति अपरा कृष्णबदाचरन्ती
गोपबदाचरन्त्या-कस्यांचित् स्बभुजं न्यस्य चलन्ती आह कृष्णो-
ऽहं हे गोपाः मम ललितां गतिं पश्यतेति आहुः । यतस्तन्मना-
स्तदेकचित्ताः ॥ १९ ॥

मा भैष्ट वात-वर्षाभ्यां तत्त्राणं विहितं मया ।
इत्युक्त्वैकेन हस्तेन यतन्त्युन्निदधेऽम्बरम् ॥ २० ॥

गोवर्द्धनोद्धरणलीलामाह-मा भैष्टेति, काचित् कृष्णायन्ती
गोपबदाचरन्तीं प्रत्याह । व्यभिचारिभिर्वैर्बातवर्षाभ्यां

पीड्यमाने च दुःखं स्वयं सहमाना बदति। बातवर्षाभ्यां भयं मा कुरत मया तत्त्राणं रक्षणं बिहितं मा कृतमेवेत्युक्त्वायन्तीयं तं कुर्वति। एकेन हस्तेन गोबर्द्धनवत् अम्बरं स्वोत्तरीयं उन्निदधे ऊर्द्ध्वं धृतबती ॥ २० ॥

आरुह्यैका पदाऽऽक्रम्य शिरस्याहापरां नृप ।
दुष्टाहे गच्छ जातोऽहं खलानां ननु दण्डधृक् ॥ २१ ॥

कालीयदमनलीलामाह आरुह्येति, एका कृष्णबदाचरन्ती श्रीकृष्णचरणस्पर्शाशया कालिवदाचरन्तीं प्रत्याह । तिरस्कृत्य सम्बोधयति । हे दुष्ट गच्छाऽतो निःसर ननु निश्चितं खलानां त्वद्विधानां दण्डधृक् अहं जातः । किं कृत्वोक्तवती आरुह्य पदेन शिरस्याक्रम्येति। हे नृपेति अद्भुतश्रबणे अवधानं कारयति। अयमभिप्रायः संचारिणो भाबाः कुत्रचित्पूतनादिबत्प्रतीयमानाः कुत्रचिद्दावग्निवत् कदाचिद् कालियबत् प्रतीयमाना दुःख–हेतु–कृत्वात् अत्र तदुपशमनार्थमेवैतासां यत्नः अतो न किंचिद्विरुद्धमिति ॥ २१ ॥

तत्रैकोवाच हे गोपा दावाग्निं पश्यतोल्बणम् ।
चक्षूंष्याश्वपिदध्वं वो विधास्ये क्षेममञ्जसा ॥ २२ ॥

दावाग्निपानलीलामाह - तत्रेति कलियदमनदिने ह्रदतीरे रात्रौ गोकुलबासिजनस्य नाशहेतुमुत्थिते दाबाग्निं स्मृत्वा काचिदाह वस्तुतस्तु संचारिणो भावा एबादाहकास्तेस्वेव दाबाग्निबुद्धिं बिधाय एका कृष्णबदाचरन्ती गोपबदाचरन्तीं प्रत्याह। हे गोपा उल्बणमतीब भयङ्करं दाबाग्निं पश्यत चक्षुंषि आशु अपिदध्वं निमीलयत अञ्जसा दाबाग्निपानेन वो युष्माकं क्षेमं विधास्ये ॥ २२ ॥

बद्धान्यया स्रजा काचित्तन्वी तत्र उलूखले ।
भीता सुदृक् पिधायास्यं भेजे भीतिविडम्बनम् ॥ २३ ॥

तत्र लीलानां क्रमो न उन्मत्ततुल्यत्बात् कुत्रचित्कस्याश्चित् लीलाया बिस्मृतिः यथासुरस्य बधानुक्तिस्तथा बत्सापहरणस्य प्रलम्बबधस्यानुक्तिः । बिरहाग्निज्बालावलीढ़त्वात् अनुकृतिर्न जाता। यद्यपि उलूखलबन्धनलीला प्रथममेव जाता तथापि इदानीमेव स्मृतिपथमबतीर्णा पूर्वलीला इयं सुखरुपा यथा ब्रजेश्वर्या बद्ध उलूखनेन तद्वशबर्ती जातः तथानया लीलयाऽस्मद्वशबर्ती भबिष्यतीत्यभिप्रायेणान्तेऽनुचक्रुः बद्धेति अन्यया यशोदाभाबनावत्या काचित्तन्बी श्रीकृष्णबदाचरन्ती उलूखलवदाचरन्त्यां कस्यांचित् स्रजा मालया बद्धा बिरहकृतदाहात् कृशतन्बी जाता तापिष्यतीति भीता भयानुकरणं संचारिभावकृतमेव, सुदृक् आस्यं पिधाय भीतिबिडम्बनं भीत्यनुकरणं भेजे। सुदृक् सुन्दराक्षी बा यमुलार्जुनभङ्गादिं क्रमते लीलान्तर्गतत्वात् पृथक् नोद्दिष्टं बिरहबिह्वलितत्बाद्वा बिस्मृतं तन्मते तुल्यत्बोक्तम्। एबमन्यासां लीलाऽनुकरणमुन्नेया॥ २३ ॥

एवं कृष्णं पृच्छमाना वृन्दाबनलतास्तरून् ।
व्यचक्षत वनोद्देशे पदानि परमात्मनः ॥ २४ ॥

एबमिति एवं पूर्बोक्तप्रकारेण लीलानामभ्यासेन कदाचिद्वृक्षान् प्रति प्रश्नः कदाचिल्लताः प्रति कदाचित्पूर्वकृतलीलामनुकरणं कदाचित् बिस्मृतानां पुनरपि वृन्दाबनलतास्तरून् पृच्छमाना बिरहकातर्येणानुसन्धानाभाबात पुनः पुनः पृच्छन्त्यो बनोद्देशे बिहारयोग्ये प्रदेशे परमात्मनः परमप्रेष्ठस्य पदानि चरणचिन्हानि व्यचक्षत अपश्यन् लीलानुकरणस्य फलमेतदेवेति। व्यचक्षत परीक्षणपूर्वकं सम्पकत्वेन दृष्ट्वा तर्कितबत्यः ॥ २४ ॥

पदानि व्यक्तमेतानि नन्दसूनोर्महात्मनः ।
लक्ष्यन्ते हि ध्वजाम्भोजवज्राङ्कुशयवादिभिः ॥ २५ ॥

पूर्वमन्योन्यं निर्णेतुं कथयति-पदानीति, नन्दसूनोरेतानि पदानि नान्यस्येति, व्यक्तं निश्चितं तत्र लिङ्गमाहुः । ध्वजाम्भोजवज्रांकुशयवादिभिरुपलक्षितानि आदि शब्दादन्यान्यपि षोडष चिन्हानि सन्ति ; तदुक्तं नारदं प्रति ब्रह्मणो वाक्यं - "यैरेव ज्ञायते देवो, भगवान् भक्तवत्सलः । तान्यहं वेद नान्योक्ति सत्यमेतन्मयोदितम् । षोड़शैव तु चिन्हानि मया दृष्टानि तत्पदे । दक्षिणे चाष्ट चिन्हानि इतरे सप्त चैवहि । ध्वजा पद्मं तथा बज्रमंकुशो यब एब च । स्वस्तिकं चोद्ध्वरेखा च अष्टकोणं तथैब च । सप्तान्यानि प्रवक्ष्यामि साम्प्रतं वैष्णवोत्तमः । इन्द्रचापं त्रिकोणं च कलशं चार्द्ध चन्द्रकम् । अम्बरं मत्स्यचिन्हं च गोष्पदं सप्तमं स्मृतम । अङ्कान्येतानि भो विद्वन् दृश्यंतेतु यदा कदा । षोडशं च तथा चिन्हं शृणु देवर्षि सत्तमः । जम्बूफलसमाकारं दृश्यते यत्र कुत्रचित् । कृष्णाख्यं तु परंब्रह्म भुवि जातं न संशयः। तच्चिन्हं षोड़शं प्रोक्तमित्याहु मुनयोऽनघा" इति । "द्वयं चाथ त्रयं चाथ चत्वारि पंच चैव हि। दृश्यन्ते वैष्णवश्रेष्ठ अबतारे कथंचनेति" । तथोक्तं धारणहेतुत्वं स्कान्दे-"दक्षिणस्य पदाङ्गुष्ठमूले चक्रं बिभर्त्यजः। तत्र नम्रजनस्यारि-षड्वर्गच्छेदनाय सः । मध्यमांगुलिमूलेतु धत्ते कमलमच्युतः । ध्यातुर्चित्ताद्विरेफाणां लोभनायातिशोभनम । पद्मस्याधो ध्वजं धत्ते सर्वानर्थजयध्वजम् । कनिष्ठामूलतो बज्रं भक्तपापाद्रिभेदनम् । पार्ष्णिमध्येऽङ्कुशं भक्तचित्तेभबशकारिणम । भोगसम्पन्मयं धत्ते यबमंगुष्ठपर्वणी । तथा बामपदांगुष्ठमूलतस्तन्मुखं -रम् । सर्वबिद्याप्रकाशाय दधाति भगबानसौ" "पदादीन्यपि चिन्हानि तत्र दक्षिणपादबत्" अन्यान्याप्येबमूह्यानि ॥ २५ ॥

तैस्तैः पदैस्तत्पदवीमन्विच्छन्त्योऽग्रतोऽबलाः ।
बध्वाः पदैः सुपृक्तानि विलोक्यार्ताः समब्रुवन् ॥२६॥

एवमसाधारणैश्चिन्हैः श्रीकृष्णस्यैतानि पदानीति निश्चित्य तन्मार्गेणाऽन्यतो गता इत्याह । तैस्तैरिति ध्वजादीनां क्षितौ पुनर्पुनःयदर्शने पदैश्चरणचिन्हैरन्विछन्त्यो मृग्यमाणा कृष्णेनोपेक्षिताः अबला अन्तर्ध्यानेन गर्वस्यापहृतत्बात् । अग्रतः कस्मिंश्चित् प्रदेशे कस्याश्चिद्बध्वा ब्रजदेव्याः पदैः समदेशास्थितैः सुपृक्तानि बिलोक्यार्ताः परस्परं समब्रुबन् कथितबत्यः । 'यद्यपि मुनीन्द्रेण तन्नाम ज्ञायते तथापि सभायां श्रीकृष्णप्रियाणां नामोक्तिरसाम्प्रतमिति नोक्तम । पूर्वं बिरहार्बाह्वलितत्बात् । आर्तिसम्बलिता एब मृग्यमाणास्ततोप्यार्तिभरोदयहेतुर्वधूपदसंयुक्तपददर्शनमभूदिति । अत एब तासामग्रतोऽन्वेषणं प्रतिबन्धोऽपीर्ष्याबशादेब जातः इत्यर्थः । स्वपरित्यागपूर्वकतत्परिग्रहादेबेर्ष्योदयः इति ॥ २६ ॥

कस्याः पदानि चैतानि याताया नन्दसूनुना ।
अंसन्यस्तप्रकोष्ठायाः करेणोः करिणा यथा ॥ २७ ॥

एताबत्पर्यन्तं स्बस्बमत्यनुसारेणान्योन्यसम्मतिमन्तरेणाचेतनेषु प्रश्नं लीलानुकरणं च कुर्बाणा मृग्यमाणा आसन् । इदानीं बधूपददर्शनेन बहुनां संचारिभाबानामुदयात् आर्त्तिभराक्रांता निर्णेतुमिच्छन्त्योऽन्योन्यं पृच्छन्ति । कस्या इति एतानि पदानि कस्याः पत्न्याः श्रीकृष्णस्य स्नेहातिशये । ननु भबतीभिः कथं लक्षितस्तत्राहुः । नन्दसूनुनेति, परदुःखानभिज्ञत्वं सूचितम् । अस्मत्संगपरित्यजनेन सहायतया प्रभुसम्माननेनास्मत्संकोचोऽ-

पि तया न कृत इतिभावः। अंसन्यस्तप्रकोष्ठायाः तेनैव स्वांसे न्यस्तः प्रकोष्ठो चलस्थानं यस्याः। तत्रोत्प्रेक्षन्ते दूरदेशपरिभ्रमणेन श्रीकृष्णाङ्गसंस्पर्शजनितसात्विकभावोदयेन चांगशैथिल्यै जाते श्रीकृष्णेनैव स्वांसे प्रकोष्ठं न्यसनं कृतं तत्पदानामसमग्रत्वादसम्यग्धारणाच्चेति भावः, यद्वा तस्या एवैतानि पदानि तस्या एवांऽसे न्यस्तः श्रीकृष्णेन स्थापितः प्रकोष्ठो मणिबन्धस्थानं यस्यां तस्या स्पर्शेन सात्विकभावोदयात्संबलत्पदपंक्त्यालिंगेन तस्यां प्रेमातिशयो जात इति भावः। यदि भावैकतानता नाभविष्यत् तदा सात्विकभावेन स्तम्भनप्रतिबद्धो नाभविष्यत् इति। क्रियानिष्पत्या ज्ञायते सबलंत्पादगतितयैव नीत इति। न चास्मद्यूथाद्विच्युता काचिदिदानीमेव संगतेति बाच्यं यतोऽसौ बिलासमन्तरेणापि अन्तर्ध्यानसामर्थ्यं जातमिति चित्रं तत्रानुरूपं दृष्टान्तमाहुः स्पर्शसुखं गज एव जानाति अतस्तं दृष्टान्तीकुर्वन्ति करेणोःहस्तिन्याः स्कंधे करिणा हस्तिना हस्तो यथा न्यस्यते तद्वत्। करेणोरङ्गसंगेन करिणा यथा सुखं प्राप्यते तद्वदिति वा, अतोऽस्मद्यूथमध्यस्थैव तेन सहैव काचिद्गता तस्या एव पदानि बहुशा दृष्टचराणि परिचीयतामित्यर्थः॥ २७॥

अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद् रहः॥२८॥

इदानीं स्वमिन् दोपसद्भावं चाकलय्य परित्यागलिङ्गेन तस्यां दोषाभावं गुणसद्भावं चाकलय्य परिग्रहलिङ्गेन तस्याः सौभाग्यं …धा बर्णयन्त्योऽन्योन्यमाहुः। अनयेति यया सहान्तर्हितस्त…ानयेति अङ्गुल्या पदपंक्ति दर्शयित्वाहुः यस्या एतानि पदानि

इति नूनं निश्चयेन ईश्वर आराधितः ईश्वराराधनाच्च सौभाग्या जाता। कीदृशी हरिसम्बन्धेन सर्वसौख्यविशिष्टा यद्यस्माभिराराधितस्तथापि तया प्राप्तमाराधनफलं यत् तदस्माभिः प्राप्तमिति प्रकारबिशेषाज्ञानात् अनाराधित एवाभावात् यतोऽस्माभि र्बिरहदुःखमनुभूयते। यद्यस्माभिराराधितो भविष्यत् तदास्माकं विरहजनितदुःखं नाभविष्यदिति। क्रियातिबत्यानुमीयते। अतो नोऽस्मान् विहाय गोबिन्दः गोकुलेन्द्रः सर्वत्र समोऽपि प्रीतः स्वां प्रीतिं प्रकटयन् यां रहः अस्मत् दृगगोचरे देशेऽनयन् प्रापितवान्। यथा अनया अयमेव गोविन्दः नूनं निश्चयेन पूर्वमाराधित इदानीमपि। कीदृशः भगवान् रसैश्वर्यवान्, यद्वा भगो भाग्यं तद्वान् नन्दपुत्रत्वात् सर्वसुखपूर्णः हरिः दावाग्निपानादिना सर्वब्रजस्य दुःखहरणशीलः ईश्वरः 'कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथा कर्त्तुं समर्थः। तथाहि यूथशो मिलितासु मधुररसं सञ्चारयितुं समर्थत्वात् मूल्यमन्तरेण दासी भवितुमागतानामस्माकं दास्यमङ्गीकर्त्तुं समर्थत्वात् इति। अस्माकमेतद्वैपरीत्यं जातं तुल्यत्वेऽपि गोविन्दस्य गुणाः यथा त्वेन तस्मादनुकूलाः जाताः। अस्माकं दौर्भाग्येन प्रतिकूलाः जाता इति। तया कृते गोविन्दाराधने ज्ञाते सति अस्माभिरपि तथानुष्ठेयमिति तात्पर्यार्थः॥२८॥

धन्या अहो अमी आल्यो गोविन्दाङ्घ्र्यब्ज रेणवः।
यान् ब्रह्मेशो रमादेवी दधुर्मूर्ध्न्यघनुत्तये॥२९॥

विरहार्त्तिभरेण विस्रुष्टचेतनास्तस्या भाग्यमभिनन्द्य गूढमात्सर्या तटस्थतावलम्ब्य परस्परं कथयन्ति धन्येति, हे आल्यः हे सख्यः इति सम्बोधने, रेणुधारणे सर्वसम्मत्यवधारणार्थं अहो इति दुर्लभलाभे। अमी परिदृश्यमानाः गोबिन्दस्य

चरणाब्जसंवन्धिनो रेणवो धन्या उत्तमाः पुण्या इत्यर्थः । यद्वा धन्या धनवहा रेणुधारिणो धनलाभो भवति । अत्र धनं किं रतिसुखं तदस्माकं हस्ताद्गलितं एतद्रेणुधारणे तल्लाभो भविष्यतीति तात्पर्यार्थः । यान् रेणून् ब्रह्मा ब्रह्माण्डाधिकारी ईशः संहाराधिकृतः रमा लक्ष्मीः सर्वसम्पत्तिदानाऽधिकृता देवी द्योतमाना भार्यात्वात । यान् रेणून् मूर्ध्नि दधुः धारयामासुः प्रयोजनमाहुः अघनुत्तये पापनाशार्थं यद्यपि तेषां पापं विशेषतो नोपलभ्यते तथापि विचारयन्ति । तथाहि ब्रह्मणः पापं किं भगवत् प्रतिकूलेभ्योऽसुरेभ्य वरदानं तल्लक्षणम, रुद्रस्य पाखण्डप्रवर्त्तनलक्षणं पापं रमाया असुरराक्षसेभ्यो विभूतिवितरणलक्षणं पापं तस्या अपनुत्तये । यद्वा व्यभिचारिभावसृष्टत्वात् ब्रह्मणः पापं एतेषां भावानां तामसहराद्रुद्रस्य पापं अस्मत्सहाय्याकरणात् रमाया पापं एतेषाम् पापानां नुत्तये नाशाय । एते ब्रह्मादयो रेणून् दधुः । अस्माकं पापासम्भवात् किमर्थं धारयिष्याम इति भावः, यद्वा पुनरप्यात्मन्यायं सम्भाव्याहुः यथैते रेणुधारणेन निःपापाः जातास्तथा वयमपि अस्माभिरपि मानलक्षणमधमाचरितस्य फलं विरहदुःखमनुभूयते एतद्रसाभिषेकेन निः पापानामस्माकं स्वत एव विरहदुःखानिवृत्तिर्भविष्यतीति व्यञ्जितमिति ॥२६॥

"तस्या अमूनि नः क्षोभं कुर्वन्त्युच्चैः पदानि यत् ।
यैकापहृत्य गोपीनां रहो भुङ्क्तेऽच्युताधरम् ॥३०॥

केवलस्य गोविन्दस्य एदाब्जरेणुनामेतादृशमाहात्म्यं तथा [स]म्बलितस्य नैतादृशं परिणामविरसत्वात मधुविषसम्पृक्तान्नवत् इति परीक्षन्त्य आहुः तस्या अमूनि पदानि नोऽस्माकं क्षोभं कुर्वन्ति विरहदुःखादप्यधिकं दुःखं ददातीत्यर्थः । यद्वा

तस्याः पदानि उच्चैरिति श्रीकृष्णपदोपरि विलासविशेषेण निक्षिप्तानि नोऽस्माकं उच्चैरधिकं क्षोभं कुर्वन्ति । विरहदुःखादप्यधिकं दुःखं ददातीत्यर्थः । नोऽस्माकं क्षोभं धैर्यच्युति अन्वेषणप्रतिबन्धं कुर्वंति तत्र हेतुमाहुः यत यस्मात् या एका गोपीनां सदा सुरक्षितमपि सर्वस्वं, चौर्येणापहृत्य रहः अस्मत्प्रवेशायोग्ये ऽच्युताऽधरं क्षणमपि विलासच्युतिरहितस्तस्याधरं अस्मानपृष्ट्वैव भुंक्ते इति साभिलाषेर्ष्यं वचनं अतो रेणुधारणमस्माकं नोचितमिति भावः ॥३०॥

न लक्ष्यन्ते पदान्यत्र तस्या नूनं तृणाङ्कुरैः ।
खिद्यत्सुजाताङ्घ्रितलामुन्निन्ये प्रेयसीं प्रियः ॥३१॥

प्रदेशांतरे गत्वा तान्यनालक्ष्य तर्कयन्ति । एतावत्पर्यन्तं तस्याः पदानि श्रीकृष्णपदैः सह समागतानि इतोऽग्रे न तल्लक्ष्यन्ते तत्र हेतुं कल्पयन्ति न लक्ष्यन्ते केवलस्य पदानि लक्ष्यन्तेऽतो रेणूनधारयिष्याम इति । लक्ष्यन्ते न तस्याः तत्र मात्सर्येण हेतुं कल्पयन्ति । बहुतृणवत्प्रदेशपरिभ्रमणेन तृणाङ्कुरैः खिद्यन्ती सुजाते अङ्घ्रितले यस्यास्तामुन्निन्ये हस्ताभ्यामुत्क्षिप्यदुद्ध्वंमुन्नीतवान् ; तथा सत्कृत्यालिङ्गनचुम्वनादिसुखविशेषं दत्तावान् । स्वयमपि प्रियेति । ननु प्रभुश्चेत्कथमुन्निन्ये तत्राहुः प्रेयसीं मादृशीभ्यस्तस्यां प्रीत्यतिशयः सूचितः । स्वयमपि तस्याः प्रियः तस्याः अभीष्टसंपादनात् एवं सुदूरगमनेनान्योऽन्यं प्रीतिराविष्कृतेति भावः ॥३१॥

इमान्यधिकमग्नानि पदानि वहतो वधूम् ।
गोप्यः पश्यत कृष्णस्य भाराक्रान्तस्य कामिनः ॥३२॥

टीका—................................. ।

अत्रावरोपिता कान्ता पुष्पहेतोर्महात्मना ।
अत्र प्रसूनावचयः प्रियार्थे प्रेयसा कृतः ।
प्रपदाक्रमणे एते पश्यतासकले पदे ॥३३॥

किं चाग्रे गत्वा पदाग्रदर्शनेन पुष्पावचयं सम्भाव्याहुः अत्रेति अत्र क्षावःप्रदेशे प्रेयस्या स्वालंकारार्थमादिष्टेन प्रियतमेन प्रियार्थे तत्संतोषाय तदादिष्टं बहु मानयता प्रसूनावचयः कृतः ॥३३॥

एवमन्योन्यं सामरस्यं सूचितम् । स्थाने उच्चप्रदेशे स्थितानां पुष्पाणामवचयं कुर्वतः । प्रपदाभ्यां भूभागस्याक्रमणेऽसकले समग्रे पदे पश्य तयास्मि भागानभिव्यक्ते श्चेति बहुनां पदानां मध्ये एकत्र द्वयोर्द्वयोरसमग्रदर्शनादिदं संभाव्योक्तमिति । तदुक्तं पराशरेण—"पुष्पावचयमत्रोच्चैश्चक्रे दामोदरो ध्रुवम्। येनाग्राक्रांतिमात्राणि पदान्यत्र महात्मन इति ॥३३॥

केश प्रसाधनं त्वत्र कामिन्याः कामिना कृतम् ।
तानि चूडयता कान्तामुपविष्टमिह ध्रुवम् ॥३४॥

ततोऽन्यमाल्यग्रथने सर्वतो विशीर्णानां खण्डितानां दलानां सञ्चारं दृष्ट्वा प्रकारान्तरेणोत्प्रेक्षमाणा आहुः। केशेति अत्रेति श्रोणी-भरण-चिन्हं दृष्ट्वा तर्कयन्ति कृष्णजाचन्त उपविष्टाया कामिन्याः प्रियकृतप्रसाधने श्रीकृष्णकरस्पर्शे साभिलाषायाः केश--प्रसाधनं वेण्यां करेण आपीड्य करेण कृतम, कामिनेति--चुम्बनादिकटाक्षदर्शनादिषु साभिलाषेन कामक्रीडाप्रदर्शनार्थं तथा कृतमित्यर्थः. तु शब्दोक्तविशेषमाहुः । अन्या स्थलांतरं दर्शयन्ति इहेति रहस्थले तानि पुष्पाणि कांतां चूडयता चूडां करंग्रथनेनालंकुर्वतोपविष्टं ध्रुवं निश्चितं नात्र

सन्देहः साक्षात् तल्लक्षणाभिव्यक्तेः । एवं रसाभिवृद्ध्यर्थं तस्या-रहः प्रापणं पुष्पसम्पादनमलंकरणं चोक्तमिति ॥३४॥

रेमे तया चात्मरत आत्मारामोऽप्यखण्डितः ।
कामिनां दर्शयन् दैन्यं स्त्रीणां चैव दुरात्मताम् ॥३५॥

यदर्थमेतावत्कृतं तदाहुः रेम इति, एवं व्रजदेवीनां तर्कानुकर्णेन स्वानुभवेन च निर्णीतं विलासं प्रतिपाद्य श्रीशुकः परीक्षितं प्रति श्रीकृष्णस्य प्रेमैकवश्यतां रसवर्त्मना बोधयति रेम इति, अपि शब्दः सर्वत्रानुषज्यते । आत्मारत आत्मरतोऽपि आत्मनि स्वस्वरूपे रतोऽपि, यद्वा आत्मना स्वभावेन रतः, प्रियवर्गेषु रतो प्रीतियुक्तोपि, यद्वा आत्मनि मनसि रतः सन्तुष्टोऽपि विषयापेक्षारहितोपि आत्मारामोपि आत्मन्येवाराम आरमणं क्रीडा यस्य, यद्वा आत्मना सहारामो यस्य बाह्यं किमपि नापेक्षते, तथापि तया सह रेमे आत्मरतत्वमात्मारामत्वमवगण्य रेमे अयमभिप्रायः आत्मरतौ आत्मारामतायां च कियत् सुखमिति तारतम्यं जानन् तया सह रेमे, देहेन्द्रियैः सह स्वकीयेषु रमणे यत् सुखं तद्रमणं तत्सुखं निरीन्द्रिये आत्मनि कुतः अतएव सर्वज्ञः सर्वरसविवेकः ज्ञानवान् तथा चक्रे इति । यतोऽखण्डितः, परिपूर्णोपि रेमे । अयमर्थः गोपीजनरमणात् प्राक् आत्मरतत्वमात्मारामत्वं च नास्ति । उभयेषामनहितत्वात् तथापि आत्मरतत्वात्मारामत्वयोश्चैतन्यधर्मत्वं स्वकीयेषु रमणं देहेन्द्रियविशिष्टस्य विग्रहि धर्म, उभये सामानाधिकरण्येऽपि न विरोधः । ईश्वरे यथा ज्ञानाज्ञानयोर्धर्माधर्मयोः न विरोधः तद्वत् अत्रापि । अत एव यथा ज्ञानाज्ञानयोः धर्माधर्मयोस्तारतम्ये तथा गोपीरमणात्मारामत्वयोस्तारतम्यं ज्ञात्वा सजातीयैर्गोपीजनैः

सम रमणं स्वीयमानन्दं स्वकीयकलाकोशलं चावधिभूतं रसवर्त्मनाविश्चकार। स्वीयामखण्डततामप्याविश्चकार। अन्यथा योगमायाविर्भावितं परिपूर्णत्वमन्तरेण बह्वीनां यूथपतीनां कथमेकेन सम्भाव्येतेति। यथान्यो नायकः सङ्केते प्रियागमनं प्रतीक्षन् आगमने खण्डितो भवति तथा नायं बहुरमणत्वात् खण्डितो न भवति। यतोऽमावच्युत इति। श्रीकृष्णस्य दक्षिणनायकत्वात् तदुक्तं रसार्णवे "नायिकास्वप्यनेकासु तुल्यो दक्षिण उच्यते" इति। किं च अहो अस्या लावण्यं प्रेम च वशीकृतः श्रीकृष्ण आत्मरतमात्मारामतावगणय्य तया सह रेमे इति। स्वप्रयोजनमुक्त्वा प्रयोजनमाह। कामिनामिति, अन्येषां प्राकृतानां मलमूत्रभाजनानामपि कामिनां मनोद्रेकात् प्रियामुखरूक्षताकलनात् संचारीभावोदयेन दैन्यं पारवश्यं प्रसादनं च। तादृशीनामेव स्त्रीणां दुरात्मतां दुःखभावतां स्वाधीनपतिकतया हर्षमानगर्वारूढतां दर्शयन् रेम इति। अयमभिप्रायः सच्चिदानन्दविग्रहः श्रीकृष्णः, सच्चिदानन्दरूपा व्रजदेव्योऽतस्तदेकनिष्ठत्वमनुकरणं न किंतु तात्त्विकमेव इदं तु कैमुत्यन्यायेनोच्यते। प्राकृतेऽपि मानारूढत्वलक्षणा दुरात्मनानां मदमानारूढता भवेदिति। किं पुनः कृष्णे मूर्त्तिमति मधुररसे दैन्यं तत्परत्वं न भवेदिति। श्रीशुकस्यायमाशयः आचार्यैस्तद्व्याकृतं तादृशकृत्यनभिज्ञान् श्रीकृष्णमाहात्म्यानभिज्ञानपि। तस्य स्वातंत्र्यं निर्लेपता च गोपीनामन्यस्त्रीदृष्टांतेन चानभिज्ञतां स्थापयितुमिदमुक्तं कामिनामिति अतो न किंचिदसमंजसमिति श्रीकृष्णस्यायमाशयः यथा "स्वागतं वो महाभागा" इति यथाश्रुतेः तासां प्रतीतिर्जाता तथाऽत्रापि कामिनामिति। कामिभिः स्त्रीवशैर्न भाव्यं स्वीयाचरितेन लोकान् शिक्षयामास। तस्याः आचरितेन स्त्रीणां दुरात्मतां स्थापयामासेति।

यद्यपि तादृशमानो न दुरात्मनतया किंतु केवलमुभयोरन्योन्यं प्रेम विवर्द्धनाय स्वाधीनपतिकाया उचित एव तथापि मर्यादामार्गोपासनायामीश्वरावज्ञानहेतुगर्वोक्तिरनुचितेति धर्मे मर्यादामार्गे त्यागं शिक्षयन् रसमार्गेऽपि एवं शिक्षयति। यदि मधुररसे रिरंसास्ति तदा रसिकैर्दीनैः स्त्रीवश्यतया भाव्यं, यदि कामकलाकौशलभक्तिः तदा लज्जापरिहारपूर्वकं स्वपतिं वशीकृत्य स्वातंत्र्येण मानदर्पपराभिः स्त्रीभिः दुरात्मतया भाव्यमित्युभयत्र शिक्षणम्। इदं रहस्यं ज्ञानकर्मादिनिष्ठमुनिमुखनिरीक्षणेन नोद्घाटितमिति। अत एव कामशास्त्रानुसारेणात्मारामत्वमनादृत्य तया सह रेमे। आत्मारामतया सुखविशेषानुदयात् अलमिति ॥३५॥

इत्येवं दर्शयन्त्यस्ताश्चेरुर्गोप्यो विचेतसः।
यां गोपीमनयत् कृष्णो विहायान्याः स्त्रियो वने ॥३६॥

पुनरपि सर्बासां मार्गेण प्रकारं कथयन् तस्या मानदर्पहेतुकं बिप्रलम्भं कथयिष्यन् रहो बृत्तमाह इत्येवमिति, इत्येवं श्रीकृष्णलीलानुकरणेनान्योन्यं प्रदर्शयन्त्यस्तत्र विलासचिन्हानि निर्णीतवत्यो विचेतसो जाताः सत्यश्चेरुः वभ्रमुः। एवं तासां बिह्वलत्वं प्रतिपाद्य तस्याः समानं निर्मितां मानारूढतां निरूपयति। वने बिलासयोग्ये प्रदेशे अन्याः स्त्रियः असम्पन्नमनोरथाः विहाय पत्या जातमानदोषा गोपी रहो नयत् ॥३६॥

सा च मेने तदाऽऽत्मानं वरिष्ठं सर्वयोषिताम्।
हित्वा गोपीः कामयाना मामसौ भजते प्रियः ॥३७॥

सा तदा आत्मानं सर्वयोषितां वरिष्ठं मेने यावत्पर्यन्तं यूथमध्ये स्थिता आसीत् तावत्तस्या मानो नाविर्भूत इदानीं कृष्ण-

सम्माननहेतुको जातः कामायमाना इत्यर्थः। यद्वा कामस्य यानं प्रापणं यासु कामवसतीरित्यर्थः। ता हित्वासौ प्रियो मामेव भजते सर्वासु समोपि मद्गुणाकृष्टचित्तः मदधीनतयानुवर्त्ततेऽतो अहं सर्वाधिकारस्वाधीनपतिका जाता। ३७॥

ततो गत्वा वनोद्देशं दृप्ता केशवमब्रवीत्।
न पारयेऽहं चलितुं नय मां यत्र ते मनः ॥३८

मानपरिपाकमाह ततो इति, ततो रतिस्थानात् तत्र मृग्यमानानामन्यासामागमनं सम्भाव्य वनोद्देशं वनप्रदेशान्तरं गत्वा दृप्ता गर्विता केशवं ब्रह्मेशवशयितारं किं पुनरेतस्याः, यद्वा केशान् वाति सुगन्धीकरोति धूपदानेनेति परमश्रृङ्गारिणमित्यर्थः। तं अब्रवीत् किमब्रवीत् तदाह। अहं चलितुं न पारये वनोद्देशपरिभ्रमणेन रतिखेदव्याकुलितत्वेन नखपदाभ्यां गन्तुं न शक्नोमि। नन्वत्र सर्वा एवायास्यन्ति इत्यग्रे विलासयोग्ये स्थाने गन्तव्यमिति चेत् तत्राह। यत्र ते मनः तत्र त्वया गन्तव्यं तत्र मां नय लज्जया साक्षादकथयन्ती व्यञ्जनया मामुत्थाप्य स्वयमेव नेष्यतीति मनसि निधाय मां नय प्रापयेति कथितवती ॥३८॥

एवमुक्तः प्रियामाह स्कन्ध आरुह्यतामिति।
ततश्चान्तर्दधे कृष्णः सा वधूरन्वतप्यत ॥३९॥

तद्दर्पोक्त्यनन्तरं किं जातं तदाह एवमिति, एवमुक्तः प्रियामाह। स्कन्ध आरुह्यतामिति। एवं सौभाग्यगर्वितया जातमानदोषया उत्थाप्य नयनमुक्तः, प्रियां स नर्मविनयं वचनमाह। स्कन्धे मदंसे आरुह्यतामिति। नर्मोक्तिमविज्ञाय मोहात्तथा चिकीर्षमानां दृष्ट्वा ततोऽनन्तरमेव संभोगस्थानाद्वा कृष्णोऽन्तर्दधे। विप्रलम्भमुत्पाद्य रसवृद्धये तद्दृष्ट्यगोचरेऽभूत् सा का

यस्याः केशप्रसाधनादिना सम्माननं कृतं वधूरिति कृष्णपरिग्रहेणोक्ता कृष्णैकजीवना अन्वतप्यत तत स्वातन्त्र्यमजानन्त्या मयैतदुक्तमिति पश्चात्तापमकरोदिति ॥ ३९ ॥

हा नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज।
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम् ॥ ४० ॥

विप्रलम्भे यथा तासामवस्था जाता तथैवैतस्या अप्यभवदिति तस्याः विलापमाह हा नाथेति, हा इत्यार्त्तिज्ञापनार्थं, हे नाथ हे स्वामिन प्राणनाथ मयायुक्तं कृतं त्वया क्षन्तव्यं यतस्त्वमस्मत्स्वामी ह्यसि अहं दासी त्वया न त्याज्येति। हे रमण रतिप्रद त्वं भोक्ता वयं भोग्याः। अतो यथा रमणं भवेत्तथा त्वया समीप एव स्थातव्यमिति हेतोः हे प्रेष्ट प्रियतम एवं कृत वत्यपि त्वय्येव प्रीतिर्विषय इति न चान्यप्रीतिविषयोऽस्ति। अति तापव्याकुलया विक्लववचनमाह क्वासि दुःखमहार्णवनिमग्नां मामुद्धर्तुमर्हसीत्याशयेनाह हे महाभुज दीर्घभुजाभ्यां दृढमालिङ्ग्योद्धर्तुं त्वमेव योग्यो नान्य इति। नन्वहमत्रैव वर्त्ते किमिति विलपयसीति चेत्तत्राह - ते दास्याः संनिधिं दर्शय स्वनैकट्यादर्शने दास्यसम्भवात्। हे सखे सता सप्त पदं मैत्रमिति वचनात्। अहं तव सखी चिरसहचर्या अतो न वंचनीयेति। कृपणाय त्वां त्यक्तुमशक्नुवत्या दशम्यवस्थासंनिहिताया मे ममः संनिधिं समीचीनं निधिं तव मुखारविन्दं दर्शय दशम्यवस्थातः प्रागेव अन्यथा वास्याः लोपे सति पश्चात्तापस्यसेऽतः शीघ्रं दर्शयेति ॥ ४० ॥

अन्विच्छन्त्यो भगवतो मार्गं गोप्योऽविदूरतः।
ददृशुः प्रियविश्लेषमोहितां दुःखितां सखीम् ॥ ४१ ॥

ततश्च विरहव्याकुलिता भूमावपतत् ततः किं वृत्तमित्यपेक्षायां प्रेमविवर्त्तस्वभावं कथयन् अन्यासां गोपीनां मार्गणैः तस्याः प्राप्तिमाह । अयमेव प्रेमविवर्त्तः । यत्समीपस्थमपि प्रेष्ठं न पश्यन्ति यथा कुररीविलापे अतः केनापि कौतुकेन तन्मंडले तत्समीप एव वर्त्तमानस्तूष्णीभावेन पश्यति । तत्प्रेमालापान् शृण्वन्नतिष्ठत् । अत उक्तं ततश्चांतर्दधे कृष्ण इति । अग्रे श्रीकृष्णोऽपि वदिष्यते । यया परोक्षभजतातिरोहितमिति । इदानीं तासां तस्याः मिलनप्रकारमाह - अन्विच्छन्त्य इति, एवं पूर्वोक्तप्रकारेण भगवतो मार्गमन्विच्छन्त्यो मृग्यमानाः सर्वा एव गोप्यः विदूरतो निकटप्रदेश एव भुवि पतितां सखीं श्रीकृष्णत्यागजनितदुःखसाम्यात् सखीत्वेन प्रतीतां दुःखसाम्यादेवैक्यापगमोऽपि स्वत एव जातः । प्रियविश्लेषमोहितां प्रियस्य कृष्णविश्लेषाद्विरहान्मोहितां स्वसादृश्यं प्राप्तां । यतो दुःखितां मानविपाकं प्राप्तां ददृशुः ॥ ४१ ॥

तया कथितमाकर्ण्य मानप्राप्तिं च माधवात् ।
अवमानं च दौरात्म्याद् विस्मयं परमं ययुः ॥४२॥

तां दृष्ट्वा किं कृतमित्यपेक्षायामाह तयेति, सख्यभावेन वह्वीभि रवबोधितयाऽत एव किंचिन्मोहादुन्मग्नयेति । प्रथमं तद्वृत्तांतं पृष्टया पश्चात्कृष्णस्येति । ततस्तया कथितं रमणं पुष्पावचयकेशप्रसाधनादिमानप्राप्तिं वाकर्ण्य माधवात् लक्ष्मीभर्त्तुः अनेन वैदग्धीविशेषः सूचित, यद्वा मूर्त्ताद्वसन्तात् किं दौरात्म्यादाऽऽत्मनः दर्पादिलक्षणादवमानं उपेक्षालक्षणं प्राप्तमाकर्ण्य परमं विस्मयं रसावेशावसरेऽकस्मादन्तर्धानं तस्य स्वातन्त्र्यं चाकलय्य विस्मयं प्रापुरिति । तत्सहितान्तर्धानादि-केशप्रसाधनादिचरितपरिकलनेऽवमानसम्भवाद्विस्मय इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

ततोऽविशन् वनं चन्द्रज्योत्स्ना यावद् विभाव्यते ।
तमः प्रविष्टमालक्ष्य ततो निववृतुः स्त्रियः ॥ ४३ ॥

ततस्ताः कृततापापनोदनया तया सह पुनरन्वेषणं चक्रुरित्याह तत इति । ततस्तत्कथनानन्तरे तदन्वेषणार्थं तया सह तदुपदिष्टमार्गेण विरलच्छायं वनमविशन् प्रविष्टाः । यावद् व्याप्य चन्द्रज्योत्स्ना विभाव्यते प्रकाशते तस्य वनप्रवेशं संभाव्य मृगयामासुः । अग्रे तमः प्रविष्टं वनस्पतिनिबिडत्वात् वर्णसाम्यादविलक्ष्यं श्रीकृष्णं मत्वा ततो हरेरन्वेषणात् निववृतुः निवृताः तथोक्तं विष्णुपुराणे "प्रविष्टो गहनं कृष्णः पदमत्र न लक्ष्यते । निवर्तध्वं शशांकस्य नैतद्दीधितिगोचरः" इति । स्त्रीणां भीरुस्वभावत्वादन्धकारप्रवेशासामर्थ्याच्चेति । तत इति सार्वविभक्तिकस्तसि । तस्य हरेरिति न पौनरुक्तम् । अनेन संचारिविशेषो निर्वेदो जातः गृहान्न गताः न च स्मृतवत्यः रत्याख्यस्थायिभावस्य दृढमूलत्वादिति ॥ ४३ ॥

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद् गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ॥४४॥

ननु कृष्णमप्राप्तौ निर्वेदेन कथं गृहान्न गतास्तत्र हेतुमाह - तन्मनस्काः इति । ताः आत्मागाराणि आत्मानं क्षेत्रज्ञं देहं वा आगाराणि गृहान् न सस्मरुः न स्मृतवत्यः । आत्मकं यासां ता स्वार्थे कः । यद्वा तदेव मनसि कं रमणसुखं यासां ताः, यद्वा तस्यैव मनो विलासविषयं यासां तास्तदाऽऽलापः तस्यैवालापोऽन्योन्यमुक्तिप्रत्युक्तिरूपो यासां ताः, यद्वा तस्यैवालापो भाषणं यासां ताः । तदुक्तमत्रैव-"मेघगम्भीरया वाचा नामभिर्दूरगान्पशूनिति" । यद्वा तस्यैवालापो गानो यो ध्यातरूपो यासां

ताः, तद्विचेष्टा तस्यैव तदर्थमेव कायस्य विविधा चेष्टा पुष्पा-
द्यवचयेन माला-यष्टिकन्दुकादिरचना-रूपा यासां ताः, यद्वा
तस्यैव पूर्वबन्निलायनादिरूपा बिबिधा चेष्टा यासां ताः।
तन्मय्य इत्यर्थः, यद्वा तस्मिन्नेवाऽऽत्मा स्वभाबो यासां ताः
तदात्मिकाः, स एवात्मा क्षेत्रज्ञरूपो यासां ताः तन्मय्यः, यद्वा
तस्मिन्नेवात्मा स्बभाबो यासां न तु गृहे ताः, यद्वा तस्यैवात्मा
बिलासस्वभाबो यासां ताः अन्योन्यालिंगननर्मस्मितादिस्व-
भाबो यासां ताः, अत एव तद्गुणानेव रूपान् कृष्णस्य गान-
प्रियत्वात् गानमेव चक्रुः न तु गृहस्मृतिमिति ॥ ४४ ॥

पुनः पुलिनमागत्य कालिन्द्याः कृष्णभावनाः।
समवेता जगुः कृष्णं तदागमनकाङ्क्षिताः ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागबते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दश-
मस्कंधे पूर्वार्धे रासक्रीडायां, कृष्णान्वेषणं नाम त्रिंशत्तमोऽ-
ध्यायः।

तास्तदा किं कृतवत्य इत्यपेक्षायामाह-पुनरिति यत्र श्रीकृष्णेन
विहृतं तत्कालिन्द्याः पुलिनं पुनरागत्य ननु कृष्णेन यत्र
परित्यक्तास्तत्र कथं पुनर्गता इति चेत्तत्राह - कृष्णभावनाः श्री-
कृष्णोऽत्र पुलिने रतिं करिष्यति इत्याशया पुलिनमस्माकं संग-
तिप्रदमिति। तत्रैवाऽऽगताः 'कस्य:'-कस्या भाग्यवशात्कृष्णः
स्नेहादागच्छेदित्यालोच्य आगताः समवेताः मिलिताः सत्यस्तदा
साधनान्तरमपश्यतः अस्मत् दैन्योपतापसम्बलितमुच्चैर्गानमा-
कलय्य स्वयमेवागच्छेदित्यावद्धहृदयाः कृष्णं मूर्त्तशृङ्गारमित्यु-
च्चैर्जगुः। तदागमनकांक्षिताः दोषसद्भावे त्यक्ताः कृष्णगुण-
गानेन दोषनिवृत्तौ सत्यां कृष्णः स्वयमेव प्रादुरभविष्यतीति,

तदा कालिन्दीपुलिने कृष्णः सफलं भवतीति निश्चित्य तदाग-
मनं कांक्षितं यासां ताः तत्प्रतीक्ष्यमाणाः कृष्णस्य गानप्रियत्वात्
जगुरिति ॥ ४५ ॥ इति श्रीमन्नारदावतारसम्भूत - श्रीव्रजाचार्य-
नारायणभट्टगोस्वामिविरचितायां रसिकाह्लादिनीटीकायां कृष्णा-
न्वेषणं नाम त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

अथैकत्रिंशत्तमोऽध्यायः

गोप्य ऊचुः

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः
श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।
दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि
धृतासवस्त्वां विचिन्वते ॥ १ ॥

एवं तावत् व्रजस्य मङ्गलं कथयन्त्य स्वकीयं दैन्यमावेद-
यन्ति जयतीति, ते तब जन्मना व्रजः वैकुण्ठादप्यधिकं यथा
स्यात् तथा जयति उत्कर्षेण बर्तते, नेयं लीला वैकुण्ठे वर्तते।
ननु मथुरायामेब जन्म इति चेत्तत्राहुः अत्रैव तज्जन्म प्रसिद्धेः
यदि मथुरायामेव जन्माभबिष्यत्तदा तत्रैव मङ्गलमभबिष्यत्
अमङ्गलरूपस्य कंसस्य विद्यमानत्वात्। देबकीवसुदेबयोर्बन्ध-
नरूपस्याऽमङ्गलस्य दृष्टत्वाच्चेत्यन्यथा उपपत्त्याऽत्रैब। तब
जन्मनान्यत्रेति किं च "बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य
ते" इति गर्गोक्त्या नन्दसुतत्वेन प्रसिद्धेरतस्तव जन्मात्रैव
अन्यच्च लिङ्गातरमाहुः। अत्र ब्रजे यस्मात्त्वं जातस्तस्मादिन्दि-

रा लक्ष्मीः शश्वत् सर्वदा श्रयते। व्रजबासिनामनुग्रहमाकांक्षतीव सेबते। वैकुण्ठे सैवैका भार्या तत्रैव तस्या उत्कर्षः। अत्र तु तादृश्या बह्वाः सन्ति। कदा सावसरो भविष्यति इत्येबमाकांक्षती निरन्तरं सेवते। अन्यत्र लक्ष्मीस्थित्या लोकस्योत्कर्षः। अत्र तु व्रजे स्थित्या लक्ष्म्या उत्कर्षः। सा हि पतिव्रता पत्यधीना पतिस्तु व्रजाधीनः तदुक्तमत्रैव "नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः, स्वर्योषितां नलिनगन्धरूचां कुतोऽन्या। रासोत्सवेऽय भुजदण्डगृहीतकण्ठ - लब्धाशिषां य उदगाद् व्रजबल्लबीनाम्" इति। अतस्तब जन्मना व्रजोत्कर्षस्य सार्वजनीनं प्रसिद्धेः। ततोऽपि तब न क्वापि हीनतास्ति। एवं सर्वत्र व्रजे मङ्गलजातेऽस्माकमेबाऽमङ्गले हेतुं न लक्ष्ययामः निरपराधत्बात् ज्ञाते प्रतीकारं बिधास्यामेति। हे दयित प्राणबल्लभ त्वया दृश्यतां एताः मदीयाः मत्कृते दुखं प्राप्नुबन्तीति। किं तद्दुःखं तदाहुः ताबकास्त्वदीया गोपीजनाः दिक्षु त्वां बिचिन्वन्ति इति। अन्वेषणेन बहुदुःखमनुभवन्ति ताबकत्बाभावे दुखं न स्यादेवेत्यर्थः। यद्वा त्वया पश्यतां प्रत्यक्षीभूयतां। ननु प्रियबिरहे जीवनमप्यसम्भावितमिति चेत्तत्राहुः - ताबकास्तदीयास्त्वयि धृतासब इति। त्वयि निमित्ते धृतासबस्त्बत् प्राप्त्याशया जीबन्ति नैराश्ये सद्य एव मरणं भवेदिति। यद्वा त्वयि बिषये धृता न्यस्ता असबो याभिस्ता त्वया रक्षितानां प्राणानां नाशदर्शनात्कथं जीबन्तीत्यर्थः। एवं भूताज्जीबनान्मृतिः श्रेयसी त्वया दृश्यतां न जीवनं न चास्माकं मृतिरिति। एकामबस्थां देहीतिप्रार्थनम् ॥ १ ॥

शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा। सुरतनाथ तेऽशुल्कदासिका,बरद निघ्नतो नेह किं वधः ॥२॥

ननु भबतीनां मया किमपि कृतं किमर्थमाक्रोशन्तीति चेत्तत्राहुः-शरदिति। एवं हि लोके प्रसिद्धिः चौरस्तु सर्वस्बमपहृत्य शस्त्रेण हन्ति। इदं त्वलौकिकं चौर्य्यं तत् दासीनां सर्वस्वमपहृत्वा शस्त्रेण बध इति तदेव विविच्य कथयन्ति शरदुदाशये शरत्कालीने उदाशये सरसि जलदुर्गे साधुजातं यत्सरसिजं कमलं तस्योदरे या श्रीस्तां मुष्णाति चोरयति तया दृशा बधः नेति। यथा कश्चित् चौरः तानन्तः स्वायतांश्चौरान् इतस्ततः प्रेषयति ते चौर्य्येणार्जितं तस्मै प्रयच्छन्ति। तथा तव दृशि कमलसम्पदं तदुदरे स्थितामपि आच्छिद्य त्वयि समर्पयतीति। अत एवंभूतया दृशा चौरभूतया द्वारेण अशुल्क-दासिका मूल्यं विना क्रीता दासीर्निघ्नतो मारयतस्तब त्वया क्रियमाणो बध इहास्मिन् विरहावसरे किं वधो न भवति। काका किं शस्त्रेणैव वध इति न किन्तु वध भवत्येब। यथा कमलोदरे स्थिता श्रीः दृशा मृष्टा एवं गोपीनामन्तःस्थितानपि प्राणानपहृत्य तुभ्यं समर्पयिष्यतीति। दृश एव चौरत्वं मारकत्वं चोक्तं, दृशा क्रियमाणो बधः त्वय्येव फलिष्यतीति। भृत्यकृतं राजनीव अतस्तव महती दुःकीर्तिर्भविष्यतीति भावः। हे सुरतनाथ! संभोगसुखप्रद! यद्वा हे सुरतनाथ सुरतापनाशात्त्राथा याच्यते। यद्वा सुरतं नाथ्यते उपतप्यते येन "नाथृ नाधृ या ञ्चोपतापैश्वर्य्याशीःषु"। इति धातो रूपं" विरहार्त्तिप्रदत्वेन सुरतस्य दाहकत्वं सूचितम। यद्वा सुरतानां त्वयि रक्तानां नाथ तापकर्तः। इदं त्वय्यति चित्रमित्यर्थः। हे बरद पूर्वमुक्तं "जयेमा रंस्यथ क्षपा" इति बरप्रत्यर्थं (प्र) मागतानां किं बध उचितो भवति अपि तु नेत्यर्थः। सम्बोधनद्वयेनेदं सूच्यते। सुरतसुखं अस्मत्तात्वतः सर्वत्र प्रसृतं भवत्वेतदर्थमागताः तत्कार्यं दूरत एव स्थितं

प्रत्युतास्मान् मारयितुमुद्यतोऽसि। अतः कामशास्त्रवैफल्यं जातमिति भावः। यद्वा दृशा शुल्कदासिका तव दर्शनमात्रेण मूल्यक्रीता नो निघ्नतः इह बने बिजने मारयतः मूल्येन क्रीत्वा मारयतः सतः त्वया क्रीयमाणो वधः किं वधः कुत्सितो बधः इत्यर्थः। अत्रत्याः बृक्षाः पक्षिणश्च एत एव साक्षिणो अस्मद्वधप्रसिद्धिं कथयिष्यन्तीतिभावः। यद्वा हे बरद अब खण्डने इति धातोरिदं रूपं पूर्वं बरं दत्वा इदानीं खण्डयसीति। अस्मन्मारणेन स्त्रीबधदोषः प्रतिज्ञाभंगरूपो दोषश्च भविष्यतीति। अतो दोषद्वयनिराकरणार्थं त्वया दृश्यतामिति बाक्यार्थः ॥२॥

विषजलाप्ययाद् व्यालराक्षसाद्-
बर्षमारुताद् वैद्युतानलात्।
वृषमयात्मजाद् विश्वतो भया-
दृषभ ते बयं रक्षिता मुहुः॥३॥

अन्याः पुनर्दैन्यमावेदयन्त्यः प्रार्थ्यमाना बहुधा बहुभ्यो मृत्युभ्यो रक्षित्वा किमितीदानीमुपेक्षस इत्याहुः। विषेति बिषमयं कालियह्रदजलं तस्माद्योऽप्ययो नाशस्तस्मात् गोपीनां मरणदर्शनात् आजीव्य नाशात्स्वस्यैव नाशः सूचितः। व्यालराक्षसादघासुरात् तदुक्तमत्रैव "रक्षो बिदित्वाखिलभूतहृत्स्थित" इति। बत्सवत्सपरक्षणेन बयमेव रक्षिता इत्यर्थः। बर्षमारुतात् द्वन्द्वैकबद्भावः वैद्युतानलात् अशनिपातरूपाग्नेः गोवर्द्धनोद्धरणेन त्वया रक्षिताः। वृषमयात्मजात् वृषोऽरिष्टस्तस्मात् मयात्मजो व्योमस्तस्मात् अप्राप्तद्वन्द्वैक्यं तस्य भावित्वेऽपि भूतबन्निर्देशो गर्गबाक्यप्रामाण्यात्, पूर्वसंस्कारबशाद्वा। किं बास्माकं त्वदुपकार-

बिस्मृतिर्न जातेति कथयन्ति हे ऋषभ पुरुषोत्तम बिश्वतो भयात्, पूतनादिभ्यो यद्भयं तस्मात् मुहु र्वारम्बारं रक्षितास्तत्र तत्रौदासीन्यराहित्येनेति किं यतोऽभयहेतवो गुणाः स्युः। यद्यपि शङ्खचूडबध एवासां रक्षा कृता, अजगरात् सुदर्शनात् नन्दस्य रक्षणं, व्योमात् गोपानां रक्षा, दावाग्निपानेन सर्वब्रजस्य रक्षा कृता, तथापि ब्रजैकदेशरक्षणेन स्वस्यैव रक्षणममन्यत। ब्रजैकदेशनाशात्स्वस्यैव नाशाभिमाना देवमुक्तम्। किं च बहिः प्रकटेभ्यो मृत्युभ्यो रक्षिता इति युक्तं वृतं इदानीमन्तरात् दुःसहाद् मृत्योः पालनीया इत्यर्थः। तदा बयं तैरेव मृत्युहेतुभिर्मारिता अभबिष्यामः तदेव मन्दमभविष्यति। त्वया रक्षितं स्वाङ्गं व्याकुलीभवतीति न्यायमाहुः। बिषवृक्षोऽपि संबर्द्ध्य स्वयं छेत्तुमसांप्रतमिति दैन्यं निवेदनमिति ॥३॥

न खलु गोपिकानन्दनो भवा-
नखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।
विखनसार्थितो विश्व-गुप्तये
सख उदेयिवान् सात्वतां कुले॥४॥

अन्या आहुः। पूर्वसंस्कारविशिष्टा गर्गोक्तिप्रामाण्यावलम्बना च उपालम्भन्ते न खल्विति-ननु भवतो यशोदासूनुत्वे निश्चिते सति सर्वमुपलम्भा युक्ता भवेयुस्तदेव निश्चितं नास्त्येवेति बिचार्याहुः, न खल्विति भवान् केवलं गोपिकानन्दनो यशोदासूनुर्न भवति। खल्विति निश्चये तथा सति यशोदया उलूखले यथा बध्वा स्वाधीनकृतः स्यात् तदास्माभिरपि प्रेमरज्जु बन्धनेन बद्धो भबेत्तत्तु यथाबन्न बद्ध बुद्धिसाक्षित्बात् तदेबाहुः। किन्त्वखिलदेहिनां सर्वप्राणिनां

अन्तरात्मदृक् बुद्धिसाक्षी । अत एव बन्धनायोग्यः । ननु साक्षी चेत्तर्हि किं दृश्यो भवतीति तत्राहुः—विखनसेति विखनसा ब्रह्मणा बिश्वगुप्तयेऽर्थितः सन् हे सखे सात्वतां यदूनां कुले उदेयिवान् उदितः यदा विश्वपालनायावतीर्णस्य वैषम्यमयुक्तमितिभावः । यद्वा भवान् गोपिकानन्दनो भवेति खल्विति सर्वत्रानुषज्यते । यदि भवेत्तदा तत्प्रजारूपा अस्मान् पालयेत । यद्वा गोपिका आनन्दयति स्वल्पलावण्यादिगुणै-रित्यपि न अस्मासु तदप्रतीतेः । किं च भवान् अन्तरात्म-दृगपि न भवति । अस्मदार्त्तिपरिज्ञानाभावात् । यस्तु बुद्धि-साक्षी भवति स तु सर्वेषां सुखदुःखं जानात्येवैतत् निश्चित-मेव किं च बिखनसेति बिशेषेण खनति वेदार्थं विचारय-तीति बिखना ब्रह्मा तेन प्रार्थितः सन् । सात्वतां भक्तानां यदूनां कुल उदित इत्यपि न ब्रह्मा जानात्येव । भक्तरक्षणं भगवतोऽन्तरङ्गं, किं तत्प्रार्थनेनातो बिश्वपालनं बहिरङ्गो धर्म-स्तदर्थमेव प्रार्थितस्तथापि बहिरङ्गधर्मणोपि वयं न रक्षिता इति, यद्वा भवान् गोपिकानन्दनो न भवति । खलु काका भवत्येवातो वयं तत्सम्बन्धेन परिपाल्या इति । भवान् अन्त-रात्मदृक्-बुद्धिसाक्षी न भवति खलु किं तु भवत्येव । नारा-यणसमो गुणैरिति गर्गोक्तेः, अतोऽस्मदार्त्तिमवकलय्य निर्वा-पयेति । बिखनसा ब्रह्मणा प्रार्थितः सन् बिश्वगुप्तये बिश्वपालनाय यदूनां कुले उदितो न खलु काका किंतु उदित एवातो ब्रह्मप्रार्थना बिरोधपरिहारायास्मान्पालयेति । यद्वा भवान् गोपिकानन्दन एव बाल्यात्प्रभृति सुखसम्वृद्धः । अस्मदार्त्ति-परिज्ञानाभावात् आत्म्यौपम्येन सर्वत्र सुखित्वप्रतीतेश्च अन्त-रात्मदृक् बुद्धि-साक्षी ईश्वरः बिखनसा बिश्वपालनाय प्रार्थितो यदूनां कुले उदित इत्यपि न अस्मद्रक्षणानाकलनात् । अत

एव पालनायोग्यत्वमितिभावः । यद्वा भवान् गोपिकानन्दनो नित्यसिद्ध एव बिखनसा ब्रह्मणा बिश्वस्मात् गुप्तये अप्राक-ट्यायांतर्द्धानार्थमित्यर्थः । सात्वतां भक्तानां कुले उदित इति । न खलु निश्चितं यदि सर्वस्मादप्यदृश्यस्तिष्ठेत्तदा नास्माकं मनसि दुःखं भवेत् । किं च भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् बुद्धिसाक्षी इत्यपि नयस्तु बुद्धिसाक्षी स किं दृश्यो भवति इति मनसि बिचार्य तूष्णीं भवेत् । तत्तु सर्वेषां दृश्यत्वे सत्यपि अस्माकमेव दौर्भाग्येनादृश्यो भवतीत्यनुतप्ता भवामेति । यद्वा भवान् ब्रह्मणा बिश्वगुप्तये बिश्वस्य गुप्तिरदर्शनं संहार इति यावत् संहारार्थं प्रार्थितः, सात्वतां यदूनां कुले उदित अखिलदेहिनामन्तरात्मनि दृक् दृष्टि र्यस्येति सर्वदेहिजीवं जिघृक्षन्नित्यर्थः । हे सखे इति खलु निश्चितं न काका शिरश्चालनम् । किंतु निश्चितमेव तत्र लिङ्गमाहुः । गोपिकानन्दनः तव संहार-कर्तृत्व-रूपं धर्मं गोपायन्तीति गोपिका अस्मान्ना-नन्दयतीति । तथा एवंभूतो भवान् अस्मान् दुःखीकरोतीति हेतुं न जानीम इति भावः । सर्वस्य बिश्वस्य परिदृस्यमा-नत्वात् बयमेव किं संहर्त्तव्याः अतो दुष्कीर्तिः तन्मूल-दुरितपरिहारायास्मान् पालयेति तात्पर्यार्थः ।।४।।

विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते
चरणमीयुषां संसृतेर्भयात् ।
करसरोरुहं कान्त कामदं-
शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम् ।।५।।

ननु केन प्रकारेण युष्मत्परिपालनं भवेत्तत्राहुः । विर-चितेति, पूर्वसंस्कारेण ऐश्वर्यं पुरस्कृत्य स-काकुदैन्यमावेद-यन्त्यः प्रार्थयन्ते बिरचितेति । एवं तावत् प्रार्थनाचतुष्टयं

प्रार्थनां निवेदयन्ति । हे वृष्णि-धुर्य निजगुणाविष्कारेणालङ्कृतयदुकुल नोऽस्माकं इति करसरोरुहं शैत्यहेतुं करकमलं धेहि स्थापय । विरहतापतप्ते शिरसि स्थापनेन सर्वाङ्गतापनिवृत्तिर्भविष्यतीतिभावः । हे कान्तेति सम्बोधनेनैतत् ज्ञायते तावत् करकमलधारणेन नः स्वाधीना कुर्विति । कीदृशं करसरोरुहं न केवलमेतावदेव । किं तु कामदं भक्तेभ्योऽभीष्टप्रदम । ननु आकौमारं चरितब्रह्मचर्योऽहं कथं स्त्रीणां शिरसि हस्तमाधास्ये इति चेत्तात्राहुः । श्रीकरग्रहं तव ब्रह्मचर्यं बिदितम् । अनेन परमरसज्ञत्वं च सूचितम् । चरणमीयुषां शरणं प्राप्तानां अविशेषेण सर्बेषां बिरचितं दत्तामभयं येन । किं पुनः प्रियाणां शरणागतानां या शरणागता सैव स्वकीया तत्त्यागोऽनुचित ईश्वरस्यापि बयमपि संसृतेः सम्यक् सृतिः शरणमभिशरणं यस्मात् संसृतिः कामस्तस्य भयात् । ते चरणमीयुषां शरणं प्राप्तानां अभयं देहि हस्तधारणेनेति । यथा संसारभयात् शरणागतानां दुःखनिवृत्तिः फलं तथाऽस्माकं कामतापशान्तिः फलमित्यर्थः । यद्वा कीदृशं कान्तान् कामानभिलषितानर्थान् ददातीति कान्त कामदं । बृष्णिधुर्येति गर्गबाक्यप्रामाण्यादिति सर्वं समञ्जसमिति । यद्वा श्रीकरः सर्वसम्पत्सम्पादको ग्रहो ग्रहणं आग्रहो वा यस्य करसरोरुहे ग्रहणमात्रे सर्व-सम्पत्प्रादुर्भवति । किं पुनर्भावबिशेषेणेति तात्पर्यम् । अतः प्रतिश्रुतमनुस्मृत्य पालयेति प्रार्थना ॥५॥

व्रज-जनार्तिहन् वीर योषितां—
निजजनस्मयध्वंसनस्मित ।
भज सखे भवत्किङ्करीः स्म
नो जलरुहाननं चारु दर्शय ॥६॥

एवमभीष्टानन्यान् मनसि निधायाहुः व्रजेति, हे व्रजजनार्त्तिहन् व्रजजनानामार्त्तिहन्तः न । अनेन सर्वभजनीयत्वमुक्तं इति ज्ञात्वा तव भजने वयं प्रवृत्ता इति भावः । हे सखे सख्युः सखा अवश्चनीयो भवतीति धर्मोपदेशः भवत्किंकरीः दासीनो भजनं तत्र तब लज्जा न दोषः। यथा वयं त्वां भजामस्तथा त्वमपि भज – "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तां तथैब भजाम्यहमिति" त्वयैव प्रतिश्रुतत्वात् इति हितोपदेशः । हे बीर मधुररसदाने वदान्य, यद्वा योषितां बीर अन्ये हि शूराः प्रतिकूलेषु प्रति-भटेष्वेव वीररसमाविष्कुर्वन्ति भवांस्तु अस्मास्वेव बीररसं प्रकटयति । वयं मृतप्राया एवं मृतं मारणं कुर्वन् न लज्जत इति भावः। यद्वा योषितां मध्ये ये निजजनास्तेषां स्मयो गर्वस्तस्य ध्वंसनं नाशकं स्मितं यस्य तस्य सम्बोधनम् । स्मितमात्रेण माननिवृत्तौ जातायामिदानीमन्तर्द्धानेनालमिति । स्वभजने सुकरत्वं द्योतयन्ति । स्मित – बिलसत् – भ्रूविक्षेपानिर्मर्द्दनां दीनानां योषितां तब प्रतिभटीभवितुमशक्तानां तावत तापहरणशीलं जलरुहाननं चारु यथा भबति तथा दर्शयेति । अन्यजलरुहं स्पर्शेन तापहरं भबति इदं तु दर्शनमात्रेणेति महान् बिशेषो दर्शितः । इदानीं बाञ्छितान्तरं प्रार्थ्यमानं बिरहतापशान्तये अङ्गसङ्गं हृदि निधाय तच्चरणस्पर्शमात्रमेब "भिक्षुपादप्रसारिका" न्यायेन प्रार्थयन्ते प्रणतेति ॥ ६ ॥

प्रणतदेहिनां पापकर्शनं,
तृणचरानुगं श्रीनिकेतनम् ।
फणिफणार्पितं ते पदाम्बुजं,
कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम् ॥७॥

ते तव पदाम्बुजं नोऽस्माकं कुचेषु कृणु स्थापय ननु उच्च-

रितब्रह्मचर्योऽहं पापभिया भवतीनां कुचस्पर्शं पादेनापि नाकरेयमिति चेत्तत्राहुः - प्रणतदेहिनां सागस्कानामपि शरणागतानां देहिनां प्राणिनां पापकर्शनम्। पापनिरसनसमर्थं कुतस्त्वयि पापशंकेति भावः। सागस्कानां तदेव फलं यद्यस्मासु पापशङ्कास्तर्हि तदपगमाय निहिततात्पर्यम्। तृणचरानुगं परकृपालुतया तृणचरान् पशूनप्यनु गच्छतीति, तत् यथा गवां तृणभक्षणमेव मुख्यं प्रयोजनं तथास्माकं अपि तापशान्तिफलमिति। नैतावता तव काचिद् क्षतिर्भवेदिति अयमभिप्रायः - यथा ज्ञानशून्यानां पशूनामनुगमनं कृतं तथाऽनभिज्ञानामप्यस्माकमनुवृत्तिः कृपया कर्तव्येति। ननु भवतीनां वक्षसि पादार्पणेन को वा लाभो युष्माकं भविष्यतीति चेदत आहुः। श्रीनिकेतनं सोभा - सम्पदो निकेतनं स्थानमित्यर्थः। त्वच्चरणार्पणेनास्माकं सौभाग्यलाभो भविष्यति। तव च अस्मत् कुचस्थापनेन रसिकेन्द्रता भविष्यतीति। ननु मानगरलदिग्धेषु भृशं तप्तेषु कोमलस्य मच्चरणस्य स्थापनमयुक्तमिति चेत्तत्राहुः। फणिफणार्पितमिति। न हि कालियफणाभ्योप्यतितप्ताः क्रूरा अस्मत्कुचा इति। यथातीवगरलाग्निना संदग्धाः कालियफणाः रमित्वा स्वकीयाः कृतास्तथा मानोन्नता अस्मत्कुचा अपि सम्मर्द नेन दमित्वा तापोपनोदनद्वारा स्वकीया कर्तव्या इति पादस्पर्शस्य मुख्यं प्रयोजनमाहुः कृन्धि हृच्छयमिति। दृश्यते रोगो वह्निभिरौषधैः प्रतीकार्यो भवति अयं रोगः हृच्छयः केनाप्यौषधेन प्रतीकार्यो न भवति। चरणस्पर्शमात्रेण निवृतो भविष्यतीत्यर्थः॥ ६॥

मधुरया गिरा वल्गु वाक्यया,

बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण।

विधिकरीरिमा वीर मुह्यती-

रधरसीधुनाऽऽप्याययस्व नः ॥८॥

इतोऽपि सर्वोत्तमसवधिभूतमधरामृतपानं प्रार्थयन्ते। मधुरयेति, हे पुष्करेक्षण कमलवत्सन्तापहरविलोचन तवैव पूर्वानुभूतया मधुरया गिरा मुह्यतीरिमाः गोपीराप्याययस्व संजीवय मोहस्य मरणपूर्वावस्थारूपत्वात् तदुक्तम् - "आपद्धीतिवियोगाद्यै र्मोहश्चित्तस्य मूढतेति"। उपेक्षया सद्यो म्रियेरन् इत्यर्थः। संजीवनं केन स्म धनेनेत्यपेक्षायामाहुः अधरसीधुनेति। कीदृश्या गिरा मधुरं रसं राति ददातीति मधुरा तया, यद्वा अमृतवन्मिष्टया तत्र हेतुगर्भविशेषणं वल्गुनि मनोहराणि वाक्यानि यस्याः तया बुधानां शब्दार्थतात्पर्याभिज्ञानां मनोज्ञया सद्यश्चित्ताऽऽकर्षिण्या गिरा सम्मोहितानां मरणस्यावश्यं भावित्वात्। दुःकीर्त्तिपरिहारायाधरामृतदानेन संजीवयेति हे वीर रसस्तु द्वेध्यं दाने युद्धे चोत्साहे वर्द्धयति। दाने शूरत्वं तदा कार्पण्यमकुर्वन् अधरामृतदानेन देहीति। युद्धशूरश्चेत् त्वमसि तर्हि जीवमानं प्रतिभटमन्वेषय अन्यथा गिरा मोहितानां मृतप्रायाणामस्माकं मारणे स्त्रीवधजनित - पातकं ते संचारश्च भविष्यतीति तात्पर्यार्थः। कीदृशीः नः विधिकरीः तदा वस्त्रहरणे त्वदाज्ञा तु विधायित्वम्। त्वया दृष्टचरमेव, यद्वा आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदध्यासितव्य इति श्रुत्यर्थः सम्पादनं कर्त्तृरिति वेदाज्ञाविधायिनीषु आत्मोपासनपरास्वस्मासु वंचनपरेण न भाव्यमिति। यद्वा पूर्वानुभूतेनेदानीं स्मर्यमाणेनाधरसिधुना मुह्यतीरिमाः त्वां मृग्यमाना गोपी अधुना मधुरया गिरा आप्याययस्व वाणिं श्रावयित्वा जीवयेति। कीदृशीस्तवैव पूर्वानुभूतया गिरा विधिकरीः दासीः तदेव स्मारयन्ति

"वद्ध्वाञ्जलिं मूर्ध्न्यपनुदायेंऽहस" इति । "मयेमा रंस्यथ क्षपा" इति प्रतिश्रुतार्थरूपया आशाबन्धात्मिकया विधिकरी जाता: । न अधुना प्रतिश्रुतार्थसम्पादिकया गिरा संजीवयेति प्रार्थना अन्यद्विशेषेण जातं समानमेव किं चार्चिकित्से रोगे महामन्त्ररूपया गिरा उप समीपे महादिव्यरसरूपेणाधरसीधुना पाययित्वा संजीबयेति । अचिन्त्यो हि प्रभावो मणिमन्त्रौषधीनामित्युक्तत्वात् । ननु बिरहे दशम्यवस्थाया अवश्यं भावित्वेन दुर्निवार्य्यत्बात् प्रकारान्तरेणापि जीवनोपायश्चिन्तनीय: इति चेत् स्वयमेव बिचार्य बदन्ति तब कथेति ॥ ८ ॥

तब कथामृतं तप्त-जीवनं
कविभिरीडितं कल्मषापहम् ।
श्रवलमङ्गलं श्रीमदाततं
भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जना: ॥९॥

एवं प्रार्थनाचतुष्टयं दुर्लभं मत्वा तब कथामृतमेवाश्रियत इत्याहु: । बिरहेऽस्माकं जीवनं नास्मद्यत्न साध्यं किन्तु त्वत् कथामृतसाध्यमिति निश्चितं तब यथाशक्तिस्तथा कथाया अपि शक्तिरिति कथोत्कर्षमाहु: । कीदृशं कथामृतं तप्तजीबनं कामादिजनकतापतप्तान् जीवयतीति । बिषयिन: कामादिबिषयबासनाशून्यान् कृत्बा स्वनिष्ठान् करोति । कथामृतस्यायमेब स्वभाव: । कबिभिरीडितं कविभि: ज्ञाततत्बभि मुक्तैरित्यर्थ: । तै: स्वसेव्यत्वेनेडितं स्तुतं तदुक्तं भाष्यकृद्भि: "मुमुक्षुसेव्यत्वमाहु:" । कल्मषापहं अविद्यारूपं संसारभूतं कल्मषं पापं अपहन्ति तथा तत एव मुक्त-मुमुक्षु-विषयिसेव्यत्बमुक्त्बा एतत् त्रिपक्षव्यतिरिक्तानां शुद्धभक्तानां सेव्यत्बमाहु: श्रवणमङ्गलं नान्यत्तेषां किंचि-

त्साध्यमस्तीति भाव: । स्बत: परमपुरुषार्थत्बमाहु: । श्रीमत् भक्तिलक्ष्मीसम्पादकमित्यर्थ: । आततं वैकुण्ठपर्यन्तं व्याप्तमित्यर्थ: । वैकुण्ठेऽपि कथामृतस्यैव सेव्यत्वश्रवणात् भुवीति अलभ्यलाभोक्ति: ये गृणन्ति कथयन्ति ते जना: भूरिदातार: सर्वस्वं ददातीति । यद्वा प्रसिद्धदेबभोग्यादमृतादुत्कर्षमाहु: । कथामृतं तप्तजीबनमित्यादि । आचार्यै: व्याकृतत्बात् । यद्वा बिरहिणीनामस्माकं कथामृतं वैपरीत्येन स्फुरति तथाहु: चन्द्रचन्दनादीनां सर्वजनानप्रतीत्या (प्रत्या) शैत्यहेतुभूतानां अस्मदनु भवेत् । तापहेतुत्बस्फूर्ते: । तथा कथामृतस्यान्येषां तापनिबर्तकत्बप्रतीताबपि नास्माकं तथात्वं प्रतीते: । कथामृतमन्येषां मरणनिबर्कत्तकमपि अस्माकं कथैब मृतं मरणं तच्छ्रबणे मरणस्य सन्निहितत्बात् । तप्तजीबनं अन्येषां संसारतापतप्तानां जीबनं आप्यायनकरं अस्माकं तद्वैपरीत्येन तप्तेष्बस्मच्चित्तेषु जीबनं जलमिब निक्षिप्तं यथा तप्ततैले निक्षिप्तं जलं ज्वालाधिक्यं करोति तथाऽस्मच्चित्तेषु ज्वालाऽऽधिक्ये हेतु: कथा मृतमेव पुन: कीदृक् कबिभिरीडितं स्तुतं असद्गुणारोप: स्तुति: । कवीनां नारदादीनां तथात्वेन प्रतीते: । मधुररसानधिकारात् तेषां न भोगो न च बिप्रलम्भो अतस्तैरीडितं न त्वस्मिन्मादृशैरिति । अस्मत्सज्जानतीनां तथात्वं प्रतीते:, कल्मषापहं प्रायश्चित्ताधिकारिणां पापहरत्वेन प्रतीतानां पापस्य फलं दु:खं कथामृतसेबनेऽपि नास्माकं दु:खनिवृत्तिर्दृश्यतेऽतो बयं नाधिकारिण्य इत्यर्थ: । यद्वा "त्यागेनैके अमृतत्बमानशुरि" ति श्रुतिबलात् पतिपुत्रादिसङ्गपरित्यागेनागतानां नास्मकं पापसम्बन्धगन्धोऽपि । अत: प्रायश्चित्तानधिकृता । प्रायश्चित्तत्वेन न श्रोस्याम इति भाव: । श्रवणमङ्गलं श्रवणमात्रेण मङ्गलं, अर्थबादरूपत्वेन सुखजनकम् । परिणामतोऽमङ्गलमेव दु:खजनकत्बात् । कथामृतस्य

स्वरूपतश्चेत् सुखात्मकं स्यात् पुत्रजन्मश्रवणवत् तर्हि अस्मानेव प्रतीतमभविष्यदिति। अस्माकं तद्वैपरीत्येन सौभाग्यहानिदर्शनादिः। यद्वा श्रीमद्भिः लक्ष्मीसम्पन्नैराततं विस्तृतम् वयं तु निष्किंचना अतो दशम्यवस्थासम्भवात्प्रागेव शुश्रूषयाऽलमिति। एवंभूतं कथामृतं भुवि वृन्दावनभूमौ आततं गीतलापादिभिः विसृतं यथा भवति तथा ये गृणन्ति कथयन्ति ते जना भूरिदा बहुदातारः नतु पात्रापात्रविचारवन्तः यत्किंचिद्ददातीत्यर्थः। यद्वा अभूरिदा जना अभूरिदाश्च ते अजनाश्च अभूरिदा अल्पदा उत्पत्तिरहिता भवन्ति र्बाते साङ्गुलिभंजशाप इति भावः॥ ९॥

प्रहसितं प्रिय प्रेम-वीक्षणं
विहरणं च ते ध्यानमङ्गलम्।
रहसि सम्विदो या हृदिस्पृशः
कुहक नो मनः क्षोभयन्ति हि॥१०॥

एवं कथामृतसेवने दुःखानुसन्धाने त्यागार्हत्वं विनिश्चित्य तदुपरमेऽपि सद्य एव मरणं सम्भाव्य उभयतो व्याकुलचित्ताः स्वान्तस्य पीडां दैन्येन निवेदयन्ति प्रहसितमिति हे प्रिय तवैतानि नोऽस्माकं मनः क्षोभयन्ति पूर्वं मङ्गलास्पदत्वेनानुभूतानि तत एव ध्यानानि इदानीं तिरोधान्येतान्येव मनः क्षोभकराणि भवन्ति। अत एव आशयाणि चिरं जीवतय साम्प्रतमिति। हे प्रियेति सम्बोधनेनैतत् ज्ञाप्यते। स्मृतमात्रस्य तव सम्बन्धस्य क्षोभजनकत्वेऽपि तद्विस्मृता स्वकृत्तिसाध्यत्वा निश्चिय इति प्रहसितं प्रथमदर्शने जाते भावोच्छलनात् साहजिकस्मितादुद्रिक्तं हसितं ततः प्रेमवीक्षणं प्रेम लक्षणं रसार्णवे "स प्रेमा भेदरहितं यूनो र्यद्भावबन्धनमिति"। भावगर्भं वीक्षणमवलोकनं

विहरणं विहारः क्रीडेति यावत्। क्रीडा तु स्वकीयसापेक्षा तत्र वयमेव स्वकीया इति। कीदृशं ध्यानमङ्गलं ध्यानमात्रेण मङ्गलं सुखप्रदं किं पुनरनुभवे मङ्गलमिति त्रयाणां विशेषणम्। रहसि निर्जनेस्थले सम्विदो नर्मोक्तयः क्रौंचबन्धाद्यभिज्ञानरूपाः। हृदिस्पृशो हृदयंगमा अस्मदनुगुणास्तदा जाता। अधुना तवादर्शने मनः क्षोभयन्ति धैर्य-च्युतिं कारयन्ति। उत्तरोत्तरं चतुर्णां क्षोभहेतुत्वं सूचितम्, हे कुहक हे कपटेति सम्बोधनेनैतत्सूचिते। पूर्वं प्रहसितादिना विश्वासं जनयित्वा इदानीमुपेक्षया नैराश्यं जनयन् कामांकुरेऽस्मान् व्याकुलयन् पद्यमभिव्यंजयसीति। तव दर्शने ये सुखहेतवो जातास्त एवादर्शने दुःखहेतवो जातास्त एवादर्शने दुःखहेतवो भवन्ति। तव सम्बन्धमात्रमायत्यां दुःखहेतुरतो ये तव सम्बन्धरहिताः स्वमनसुखिनो नान्ये यथा वयमिति भावः॥ १०॥

चलसि यद्व्रजाच्चारयन् पशून्
नलिनसुन्दर नाथ ते पदम्।
शिलतृणाङ्कुरैः सदितीति नः
कलिलतां मनः कान्त गच्छति॥११॥

एवं स्वभावतस्तव क्षोभदातृत्वे निर्णीतेऽपि स्नेहवशात्त्वदनिष्टाशंका-व्याकुलचित्ता वयं त्वं त्वस्मदनिष्टाबन्धनिरसनेन तटस्थतामवलम्बसे। न्यायतो विरोधप्राकट्यात् इति। चलसीति, व्रजात् यत् यदा पशून् गाश्चारयन् वृन्दावनप्रदेशेषु संचारयितुं चलसि तदा नलिनसुन्दरं नलिनादपि सुन्दरं सुभगं कोमलं च ते तव पदं हे नाथ व्रजराजपुत्रत्वात्, यद्वा नाथते याच्यतेऽस्माभिरिति हे नाथ! यद्वा नाथसे प्रियजनाननुसन्तापयसि। शिलतृणांकुरैः शिला सूक्ष्मपाषाणकणाः तृणानि

दर्भादिनामंकुरा एतैरतिपुरुषैस्तीक्ष्णैः सीदति खिद्यतीति मत्वा नो मनः कलिलतां व्याकुलतां गच्छति प्राप्नोति । वस्तुतस्तु तथा वृन्दावनप्रदेशस्य कोमलत्वेन सुखप्रदत्वं प्रसिद्धेः । अन्यथोपानत्परित्यागेन संचरणं कथं भवेदिति । तथापि स्नेहस्यायमेव स्वभावः । किमपि कल्पनया मनो व्याकुलयति । तव तु अस्माकं वास्तवे दुःखे विद्यमानेऽपि औदासीन्यमिति चित्रम्, व्रजादिति प्रातरारभ्य सायंकालपर्यन्तं खेदसम्भावनेति । पशूंश्चारयन्निति । अस्मत्प्रवेशायोग्ये गवां चारणमिति सेर्ष्यं बचनम् । पशूनिति बुद्धिशून्यं तेन मार्गत्यागपूर्वकं घनतृणमयप्रदेशसंचारणेन खेदास्फुरणं तेषामिति हे कान्तेति यद्यपि त्वमस्मदार्त्तिनिरसनेन समर्थोऽसि तथाप्यौदासीन्यमवलम्बितुं न शक्नुमः । यतस्त्वस्मच्चित्तेषु कोमलकरसम्बाह्यत्वेनावमाससे इति तात्पर्यम् । नाथेति कान्तेति सम्बोधनद्वयेन निजमनः पीडा पराकाष्ठा सूचितेति । अतश्चिरं दृगगोचरे प्रदेशे परिभ्रमणेनालमिति ॥११॥

दिनपरिक्षये नीलकुन्तलै-

र्वनरुहाननं विभ्रदावृतम् ।

घनरजस्वलं दर्शयन् मुहुर्मनसि

नः स्मरं बीर यच्छसि ॥ १२ ॥

एवं दिवा वृन्दावनप्रदेशे क्रीडया दिबसमतिवाह्यास्मदुपेक्षया रसान्तरालंम्बनैः सह सुखमनुभूय सायंकाले कामो इव बेलायां सम्यक् शोभा-दर्शनासामर्थ्यात् दुःखाधिक्यं सूचितम् । नीलाश्च ते कुन्तलाश्च निलकुन्तलास्तैरावृतम् ! अनेन शोभाधिक्यं सूचितम् । वनरुहाननं जलरुहतुल्यमाननं विभ्रत् । यथाऽलिभिरुत्पलस्थितमकरन्दः पीयते तथात्रालकालिभिर्मुखकमलस्थितलावण्यमकरन्दः पीयत इत्यर्थः । घनरजस्वलमितिपराग-

च्छुरितत्वं कमलस्योपमानत्वात् । तच्च मुहुर्वारं वारं दर्शयन् । कदाचिद्गृहमध्ये प्रविसन् कदाचित् सर्वतो गोपीः कटाक्षवीक्षणेन सम्मानयन् नोऽस्माकं मनसि पौनः पुण्येन स्मरं स्मरणमात्रेण मनः क्षोभकं किं पुनर्दर्शनेनेति । मनोभवत्वात् पुनर्मनस्येवावस्थामर्पयसि पीडाहेतुमेवार्पयसि न निवर्तयसि । गोदोहनकर्मनियुक्तानां तदाकरणनियोग – छद्मना मुखकमलस्य वारं बारं प्रदर्शने कामाग्नेः संधुक्षणमिति भावः । हे वीरेति सम्बोधनेनैतत् सूच्यते । अन्यो बीरस्तु प्रतिभटषु वीररसमाविःकुर्वन् तद्धृदयेषु शल्यमर्पयन् शोभते त्वं किंकिरीषु वीररसं प्रकटयन् स्मररूपं कर्णतालीकमर्पयन् कथं न लज्जस इति भावः । किं च मुहुर्मुहुः दर्शयन् स्मरं यच्छसि अयमभिप्रायः । रसास्वादनसमयोऽयं न स्मरार्पणसमय इति अनवसरे स्मरार्पणलिङ्गेनाविवेकित्वं सिद्धतीत्यर्थमिति ॥ १२ ॥

प्रणतकामदं पद्मजार्चितं

धरणिमण्डनं ध्येयमापदि ।

चरणपङ्कजं शन्तमं च ते-

रमण नः स्तनेष्वर्षयाधिहन् ॥ १३॥

स्मर्यमाणेन तव पूर्वाचरणेनेदानीं मनसि क्षोभो जायते । अतः कपटं बिहाय सङ्गं देहीति प्रार्थयन्ते । यद्यप्ययमर्थः पूर्वं प्रार्थित एव प्रणतदेहिनामित्यनेन पादाम्बुजार्पणं कुचेषु प्रार्थितमेव तथापि विस्मितत्वात् पुनरपि प्रार्थयते । अथवा वहुवक्तृत्वान्न पुनरुक्तिः । एवं वर्णनेन बिरहार्त्तिबहुलत्वादिव । चरणपंकजस्थापनं छद्मना पुनरपि सम्भोगमेव प्रार्थयन्ते सुरतवर्द्धनमित्यस्मिन् श्लोके स्पष्टीभविष्यत इति । प्रणतेति, हे रमण रतिप्रद ते चरणपङ्कजं नः स्तनेष्वर्पय कीदृशं प्रणतानां

कामदं सर्बाभीष्टप्रदं , नलकूवरादिषु तथा दर्शनात् पद्मजेन ब्रह्मणाऽर्चितं पूजितं "दृष्ट्वा त्वरेण निजधोरणतोऽवतीर्य पृथ्व्यां बपुः कनकदण्डमिबाभिपात्यति" परमाबश्यकत्वात् । धरणिमण्डनं ध्वजादिभिः षोड़श श्चिन्हैः धरणिं मण्डयतीति कृपालुत्वमुक्तम् । किं चान्ये देबाः पादैर्भुबनं स्पृशन्ति अयं तु देबोत्तमः सुतरां परन्तु वृन्दाबनभूमेरलौकिकं माधुर्यं येनाकृष्टः पादत्राणमन्तरेण पादसंचारिणा भूम्याः जनितं सुखमनुभबति । भूदृष्टान्तेन तमलंकरणं संभाव्याशासते । ध्येयमापदि ध्यानमात्रेण सर्बापन्निबारकं गजेन्द्रादिषु तथा श्रूयमाणत्वात् । तथा बयमपि स्मरापद्ग्रस्तास्ततोऽस्मान्मोचयति ध्यानमात्रमर्घानबर्त्तकं किमुत स्पर्श इति भावः । कैमुत्यन्यायेन स्पर्शमेबाशासते एब सकामानां अभीष्टप्रदत्वेन आर्त्तिनामार्त्तिनिबर्त्तकत्वेन सेव्यत्वमुक्त्वालंकर्मीणामलंकृतिप्रदत्वेन सेब्यत्वमुक्त्वा भूस्तु बराहभोग्या नित्यप्रिया वृन्दाबनभुबस्ततोऽपि वैशिष्ट्यत - स्तस्या नित्यसम्बन्धं चोक्त्वा निष्कामानां परमपुरुषार्थमाहुः । सन्तमं सेबासमये सुखप्रदं सुखरूपं च एतादृश चरणपङ्कजं शैत्यहेतुत्वात् । ततस्तनेष्बर्पय बिशेषणफलं स्वस्मिन्नेब पर्यबस्यति । त्वच्चरणपङ्कजं स्वभाबत एब प्रणतकामदम् । बयं प्रणतास्तासामभीष्टप्राप्तिर्यदि नाभबिष्यत्तदा कोऽपि प्रणतो नाभबिष्यत् । पद्मजार्चितं ब्रह्माण्डाधिकृतेन ब्रह्मणा पूजितं बयमपि मधुररसाधिकृताः । यद्यस्माकं रसाधिकारसिद्धिर्नाभविष्यत् तदा कस्याप्यधिकारसिद्धिर्नाभबिष्यत् । ब्रह्मा तु स्वाधिकारसिद्ध्यर्थं पूजयति तथा बयमपि, धरणिमण्डनमिति । बयमपि भूसादृशेनालंकारार्थं स्वीकुर्म इति । आपदि ध्येयं यथा गजेन्द्रादय आपदो मोचितास्तथा बयमपि स्मरापदो मोचनीया इति । यदि बास्माकमापन्निर्वर्तनं नाभबिष्यत्तदा कोप्यार्त्तस्तब

पादोपसृतिं नाकारिष्यत् । बयमार्त्ता आर्तिनाशाय तब पादस्पर्शं कामयामहे इति । शन्तमं सेवासमये निष्कामानां सुखरूपं बयमपि निष्कामाः केशैर्निर्वोढुमतिलंघ्य समस्तबन्धुनां स्तनेषु चरणपङ्कजं निधेहीति दैन्यमावेदितम् । हे रमण हे आर्त्तिहरण इति बिशेषणद्वयेनेदं सूच्यते इति पदत्वेनाऽधिहृतत्वेन तव प्रसिद्धिरस्ति । भक्ताभीष्टप्रदत्वेन चरणकीर्तिरप्यस्ति । अस्मान्मनोरथ्या पूरणे महती तव प्रसिद्धिर्भबिष्यतीतिभावः ॥१३॥

सुरतवर्धनं शोकनाशनं
स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम् ।
इतररागविस्मारणं नृणां,
बितर वीर नस्तेऽधरामृतम् ॥१४॥

सुरतवादेनोक्तः । कस्यापि झटिति साक्षादर्थप्रत्यायको न भवतीति मनसि निधाय साक्षात्सम्भोगरसं प्रार्थयन्ते सुरतेति पूर्वमुक्तमधरसीधुना प्याययस्व न इति । तस्यैवेदानीं सबिशेषप्रार्थनमाहुः । हे बीरेति दानशूरत्वमुच्यते ते तवाधरामृतं बोऽस्मभ्यं बितर देहि । कीदृशं सुरतं संम्भोगेच्छां वर्द्धयतीति लब्धेऽपि तस्मिन् तस्य भावः सूचितः केबलं सम्भोगेच्छामेव न पुष्नाति किन्तु मानसशोषमप्यपहरति । शोकनाशनं बिरहजनितमकृतार्थत्वमानरूपं शोकं नाशयति । तथा तत् अधरामृतपानमन्तरेण शोको न नश्येदितिभावः । पुनः कीदृशं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितं नीरसस्यापि रसोद्बोधनद्वारा जगदुन्मादकत्वं सूचितं चुम्बितमित्यनेनानुच्छिष्टत्वाभावः सूचितः । तादृशेन तेनान्यस्याप्यधिकारसम्भावनं सूचितमिति । यद्वा स्वरितबेणुना षड्जादि स्वरालापयुक्तेन बेणुनेति नादब्रह्म-

दिभिः व्यञ्जकत्वं ध्वनितं चुम्बितमिदि सारांशस्तेनास्वादितं किङ्करीणामुच्छिष्टाधिकारो नान्यस्येति सूचितम् । नृणामिति सामान्यतः पुरुषमात्राणां नादामृतश्रवणेन इतरेषु सार्वभौमादिब्रह्मानन्दान्तेषु सुखेषु रागमिच्छां विस्मारयतीति तथा, यन्मोहिताः पुरुषा अपि चलिताः किमुत नार्यः। यद्वा इतरेषु ब्रह्मरुद्रादीनां ये रागाः मालबाद्यास्तान् बिस्मारयति। अधरामृतं यदा बहिः प्रसरति तदा नादसम्बलितमेव हि निर्गच्छति। तदमृतं येषां नृणां हृदि प्रबिष्टं, चुम्बितं सारांशग्रहणेनेति सेर्ष्यबचनं। इदानीमपि उच्छिष्टमपि याचितं देहीति। अनेनोच्छिष्टेन सुरतेच्छा वर्द्धिष्यते। अप्राप्तिर्जनितशोकोऽपि निर्बर्त्तिष्यते उच्छिष्टकार्पण्यमकुर्वन् देहि। तव न काचित् क्षतिः भविष्यतीति तात्पर्यार्थः ॥१४॥

अटति यद् भवानह्नि काननं,
त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम् ।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते
जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम् ॥१५॥

एवमदर्शने दुःखं दर्शनाबसरेऽपि पक्ष्मव्यबधानेन दुःखं तद्-अबश्यमेवेत्युभयतो व्याकुला सत्यो दैन्यं निवेदयन्ति – अटनीति, यत् यत् यदा भवान् काननं बृन्दावनं प्रत्यटति अन्हीति रात्रौ यत्र बिलसितं तत्परिशीलनेन दिवापि सुखबिशेषोदयात् स्वस्याशक्त्या तत्र गमनाभावः सूचितः। तदा त्वामपश्यतां गोपीजनानां अस्मद्दृष्टान्तेन सर्वेषामपि व्रजजनानां त्रुटि उपलक्षणमेतत् । अल्पः कालो युगायते दुरतिक्रमणीयत्वात् । अदर्शने परमदुःखाबधिरुक्तो दिवसस्यानतिबाह्यत्वादिति। सायंकाले बनादिगमनसमये कुटिलाः बक्राः कुन्तला

अलकाः यस्मिन् । तव हृदयस्य कौटिल्यं कुन्तलैश्चैव प्रकाशितमित्यर्थः । यतः शीघ्रं दर्शनं ददासीति । श्रीमुखं श्रिया शोभया युक्तं मुखं उदीक्षतां उत् उच्चैः सतृष्णतया ईक्षतां अस्मदृशानां सर्वेषां गोपीजनानां दृशां पक्ष्मकृत् बिधाता जडोऽनभिज्ञ एबाभासत इत्यर्थः । निमेषमात्रव्यबधानासह्यतयासह्यत इत्यर्थः । एवं दर्शनस्य मुखे परां काष्ठामापन्नेऽपि निमेषव्यबधानात् दुःखसम्बलितत्वं आपाततो रमणीयत्वेपि उदर्के दुःखं सम्बलितत्वात्दुःखमेव अयमर्थः देबानां श्रीमुखदर्शनविमुखानां अनिमिषकरणेन श्रीमुखदर्शनासक्तमनसां सनिमिषत्वकरणेन च अनुचितकर्मकरणात् विधातरि जड़त्वम । अधुना प्रणयसंरम्भेण दोषोद्गारं प्रकाशयन्त्य स्वस्मिन् निर्दोषत्वं व्यञ्जयन्त्य आहुः । ॥१५॥

पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवा-
नतिविलङ्घ्य तेऽन्त्यच्युतागताः ।
गतिविदस्तवोद्गीतमोहिताः
कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि ॥१६॥

पतिसुतेति – पत्यादीन् अतिशयेन बिलङ्घ्य अतिशयोऽत्र तेषां बाक्यानाकलनात् अवगणय्य । प्रत्यापत्तितयान्ते तबान्तिके समीपे आगताः गतिविदः गतिमस्मत्स्वभावरमणात्मकं जानतस्तव, यद्वा अस्मदागमनं जानतः, यद्वा गतिविदो बयं तव रमणात्मकगतिं स्वभावं जानन्त्यः, यद्वा गतिगमनमस्थितिं जानन्त्यः तदुक्तमत्रैब। "धन्याः स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एता" इत्यनेनोक्ता । गतिं जातन्त्येव, यद्वा तव गतिं बहिर्ब्रह्मचर्यमन्तस्तु बिलासस्वभावं जानन्त्यः, यद्वा तव गतिं धूर्त्तत्वं जानन्त्य स्तवसमीपे आगताः । ननु मत्स्वभावं

जानीथ चेत्तर्हि किमागताः तत्राहुः। तबोद्गीतमोहिताः तदुक्तं "देव्यो बिमानगतयः स्मरतुन्नसारा भ्रश्यत् प्रसून-कबरा मुमुहुर्विनीव्यः" इत्यनेनोक्तो देबीनां मोहो मादृशी-नामबिदग्धानां का कथेति। अहो माहात्म्यं मोहन-मन्त्रा-त्मकस्य तब गीतस्येतिभाबः। अयमभिप्रायः स्वयमागताश्चेत् तदा त्याग उचितो भवेत् तत उद्गीतेन तत्तान्नाम्नाऽऽनी-तानां अस्माकमिदानीं त्यागेन बिडम्बनं कुर्वन् धूर्तत्वं प्रक-टयतीति न्यायमाहुः। हे कितव धूर्त्त अन्योऽपि कितवः नायि-कादर्शनात् प्रागेब बञ्चनां करोति दृष्टायां रमणमेब प्रकाशयति तदेबाहुः। स्वयमेबागता योषितः रात्रावपि निशि, रात्रौ त्व-दन्यः कस्त्यज्येत् सम्भावनायां न कोऽपीत्यर्थः। अन्यस्यापि कितबस्य व्यबहारसिद्ध्यर्थमेव कैतवं स एब स्वार्थं तस्येति। तव कैतवस्य स्वार्थपर्यवसायित्वाभावं व्यर्थमेब कैतबमिति। अतः पत्यादीन् बिहायागता अस्मान् परित्यज्य कथं न लज्जसे अतो धूर्त्तत्वं बिहाय दर्शनं देहीति प्रार्थयामहे ॥१६॥

रहसि सम्विदं हृच्छयोदयं
प्रहसिताननं प्रेम वीक्षणम्।
वृहदुरःश्रियो वीक्ष्य धाम ते,
मुहुरति-स्पृहा मुह्यते मनः ॥१७॥

पुनरपि बिरहव्यथिताः स्ववैचित्यमभिव्यञ्जयन्त्य आहुः। रहसीति-रहसि एकान्ते सम्बिदं सुरतगोष्ठ्यां, प्रहसिताननं प्रकृष्टं हसितं यस्मिन् एतादृशमाननं प्रेम्णा बीक्षणं हृच्छ-योदयमिति। प्रेमाणां बिशेषणं हृच्छयस्य हृदि लीनस्यैव काम-स्योदय उद्बोधो यस्मात्, यद्वा प्रेम बीक्षणं कीदृशं प्रहसितं हास्ययुक्तमाननं यस्मिन्, यद्वा प्रहसिताननमिति बिशेष्यं प्रेम बीक्षणमिति बिशेषणं, ते बृहत् अस्मत् कुचबिलुण्ठन प्राङ्ग-णभूतं श्रियो धाम ते उरो बक्षस्थलं बीक्ष्य मुहुर्बारम्बारं अतिस्पृहा। इदानीं स्मर्यमाणानि एतानि अनबरतं तप्रोदन-फलां अतिस्पृहां मृत्यौत्कण्ठ्यं जनयन्तीतिभावः। तेन च मनो मुह्यते धैर्यच्युतिर्भवतीत्यर्थः। यद्वा रहसि सम्विदं प्रति ते प्रहसिताननं प्रेम-बीक्षणमित्याहुः। आननस्य बिशेषणं श्रियो-धाम बृहत् सम्भोगार्हं उरो बीक्ष्य चिन्तयित्वा अधु-नाति स्पृहा भबति पुनरपि तथैब भवत्विति। तया च मनो मुह्यते धैर्यं त्यजतीत्यर्थः। यद्वा प्रहसिताननं बीक्ष्य आदर्शे प्रतिबिंबितं दृष्ट्वा ते अतिस्पृहा पुनः पुनः दर्शनोत्कण्ठ्यं भबति। तेन च मनो मुह्यते बिस्मितं भबति। अहमेतादृक् सौन्दर्यबान् स्मेति तात्पर्यम्। बक्ष्यति च "बिस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्गमिति"। अतो मादृशीनां अतिस्पृहा मनो मोयोरनौचिती-परि-हारः सूचितः अतो मादृशीनां मुहुर्मूर्च्छोदयात् जीवितमर-णांतरालबर्ति प्राणाबस्थामधिगताः ॥१७॥

व्रजवनौकसां व्यक्तिरङ्ग ते
बृजिनहन्त्र्यलं विश्वमङ्गलम्।
त्यज मनाक् च नस्त्वत्स्पृहात्मनां,
स्वजनहृद्रुजां यन्निषूदनम् ॥१८॥

एबं स्मर्यमाणैरेतैः पुनः पुनः हृद्रोग एव बर्द्धतेऽतः काप-ण्यं बिहायेवं कुर्विति स-दैन्यं हृद्रोगोपशमनं प्रार्थयन्ते व्रजेति-ते तव व्यक्तिः प्राकट्यं ब्रजबनौकसां अविशेषेण बृजिनं हन्ति दुःखनिरसनसमर्था। अङ्गेति प्रबोधनाय सम्बो-धनं तन्मध्ये अस्माकमेब दुःखं नान्येषामिति। हेतुं पृच्छा-

मेति। अलमतिशयेन बिश्वमङ्गलरूपा च उदर्के सुखपरम्परा-सम्पादिका मङ्गलमिति। स्वजनानां हृद्रोगानां हृदयपीडानां यन्निषूदनं समूलनिरसनं गूढं अस्मद्धृदयाश्रितस्य तवैब विदितं नान्यस्य। तच्च मनाक् ईषत् नोऽस्मभ्यं त्यज वितर त्वत्स्पृहात्मनां त्वत्प्राप्त्यर्थं स्पृहा, यद्वा त्वत्स्पृहा त्वद् भावेच्छा आत्मनि चित्ते यासां। यद्वा त्वयि या स्पृहा सुखं चिरं तिष्ठत्विति। बांच्छा कामनेति यावत् सा आत्मनि मनसि यासां तासां, अयमभिप्रायः। हृदयतापे सति तत्रस्थे त्वय्यपि तापः सम्भबेत्। अतस्तव तापनिर्वाणार्थमौषध-प्रार्थना। न तु स्वतापं निबारणार्थमिति। त्वया त्यक्तानां न मरणमिति तात्पर्य्यम्। मनागतियाचकरीत्या स्तोकमेव प्राथ्र्यते। नतु तदल्पमिति तदुक्तं गीतगोविन्दे "स्वहृदयमर्म्मणि वर्म्म करोति सजलनलिनीदलजालमिति" वत्। एताबत्पर्य्यन्तं स्वतापनिबारणार्थं सर्वं प्रार्थितं इदानीं स्वतापानुसन्धानं बिहाय श्रीकृष्णस्य गोचारणार्थं बृन्दाटवीप्रवेशेन चरणारविन्दे व्यथां परिकल्प्य तरुच्छायान्तर्गतं यत्तामपश्यन्त्यः। तद्यथा जनिता स्वस्मिन् व्यथां निवेदयन्त्यो विरहार्त्तिविह्वलाः ॥१८॥

यत्ते सुजात-चरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः ॥१९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे गोपीगीतं नामैकत्रिंशोऽध्यायः ॥३१॥

ततः तदनन्तरं स्वमेव प्राथ्र्यमाना रुदन्त्यः आहुः यत्ते इति" हे प्रिय प्रीतिबिषय ते तब यत्सुजातं सुकोमलं चरणाम्बुरुहं स्तनानां कर्कशानुसंधानेन भीताः शनैरिति हस्तलाघवेन कर्कशेषु नबयौबनोन्नतेषु स्तनेषु दधीमहि धारयेम तेन पादाब्जेनाटबीं बृन्दाबनभूप्रदेशं अटसि। तत्पदाब्जं कूर्पादिभिः सूक्ष्म-पाषाण-कणिकादिभिः तृणाङ्कुरैश्च किं स्विदिति। कथं वा न व्यथतेऽपि तु व्यथत एवेति निश्चित्य सम्भाव्येति वा नोऽस्माकं धीर्भ्रमति मुह्यति। पाठान्तरे नयसीति। पशूनन्यां काञ्चिदिति वा सेर्ष्यं बचनं भबदायुषां भबानेबायुः जीबितं यासां तासां नः जीबनपीडायां सर्बा पीडा भबतीति तात्पर्यम्। यद्यपि बृन्दाबनप्रदेशस्य सुखरूपत्वं येनाकृष्टः कृष्णः पादत्राणमन्तरेण साक्षात्स्पृशति तथापि बुद्धिबिक्लबत्वादेबमुक्तम्। "अनिष्टाशङ्कानि बन्धुहृदयानि भवन्तीति" न्यायात्। यद्यपि क्वापि क्वापि पद्यानि पुनरुक्तानि अनुसन्धानाभावेन तथाधुनेदं पद्यं तथैबोक्तमिति। यथा हि चलसि यद्व्रजाच्चारयन् पशून् नलिनसुन्दरं नाथ ते पदं। शिलतृणाङ्कुरैः सीदतीति नः कलिलतां मनः कान्त गच्छतीति पद्ये अयमर्थः पूर्वमुक्त एव तथापि श्रीकृष्णदर्शनेन उत्तारस्याप्राप्तौ पुनरपि वैशिष्ट्येन दैन्यप्रलपनरोदनप्रकारस्त्वयमेब पौनः पुन्यमिति अयमभिप्रायः। त्वच्चरणाब्जमस्मज्जीवितं प्राणा इत्यर्थः। त्वच्चरणाब्जपीडा अस्मत्प्राणपीडैवेत्यर्थः। त्वच्चरणाब्जसुखेनैवास्मत्सुखमिति तात्पर्यम्।

इति श्रीनारायणभट्टविरचितायां रसिकाह्लादिन्यां पञ्चाध्यायीटीकायां गोपिकागीतं नामैकत्रिंशोऽध्यायः ॥३१॥

श्रीशुक उबाच—

इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा।
रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः ॥१॥

एवं दशम्यबस्थांतरबर्तिनीनां अनर्थकं किंचित्प्रलपन्तीनां रोदनप्रकारं श्रीशुकः कथयति इति, एवं तदादिप्रकारेण पूर्वोक्तेन प्रगायन्त्य उच्चैर्गायन्त्यः कदाचिन्मध्ये प्रलपन्त्यः अनर्थकमनन्वितं बचः कथयन्त्य एवं प्रकारो मया कथितः ततोऽपि चित्रधेति उभयत्र संबध्यते। एवमपि यदा न प्रादुर्भावितस्तदा सुस्वरं करुणोत्पादकस्वरसहितं यथा भवति तथा रुरुदुः हे राजन्निति सम्बोधनं तासां विरहार्त्तिभराधिक्येऽवधानं कुर्विति। सर्वसाधने वैफल्ये जाते रोदनमेबावशिष्टं कृष्णाकर्षणकमिति बिचार्य तदेब चक्रुरिति। तत्र हेतुः कृष्णदर्शनलालसाः कृष्णदर्शने ललसाऽत्यौत्सुक्यं यासां ताः नतु पत्यादिशुश्रूषणे देहरक्षणादौ चेति ॥१॥

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः ।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥२॥

अधुना रोदनमेव कृष्णप्राप्तिसाधनं जातमित्याहुः तासामिति, यस्तु बिरहज्वालावलीढमनस्तेन रुरुदुस्तासां परमार्त्तानां दशम्यवस्थानिकटबर्त्तिनीनां मध्ये शौरिः सर्वेषां दुःखनिरसननिजगुणप्रकाशनार्थं शूरवंशेऽवतीर्ण इत्यर्थः आविरभूद्दृश्योऽभवदिति। तासां शोकनिवृत्त्यर्थं स्मयमानं मुखाम्बुजं यस्य, स्वदोषाच्छादनार्थमेव स्मितं स्वस्यैव सापराधत्वादिति। रोमाञ्चादिगूहनार्थं पीताम्बरधरः। पीताम्बरेण सर्वमङ्गमाच्छाद्याविर्भूतः। स्रग्वी तद्विरहे स्वस्यापि तापनिर्बापकं शैत्यहेतुं मालाधारणमुक्तम्। यद्वा इदानीं मनसि आविर्भावे न रसो न च कीर्त्तिरिति विचार्याविर्भूतः, पीताम्बर इति वर्णसादृश्येन तद्वर्णसदृक्त्वेन पीताम्बरधारणमुक्तः, स्रग्वी अनेन मालाधारणेन कीर्तिरक्षणं सूचितम तासामलंकरणार्थं, यद्वा स्रजो बृन्दाबनभवमाल्य-

गुम्फिताः सन्ति यस्येति ईर्ष्ययोपालब्धुमुद्यतानां वाक्स्तम्भं कारयितुं जगन्मोहनरूपमाविश्चकारेति। एवं रूप-गति-बिलास-माधुर्यप्रकाशनेन साक्षान्मन्मथमन्मथः। स तु मन्मथः प्राकृतः प्राकृतानेव क्षोभयति। नत्वप्राकृतान् कृष्णप्रियान्, अयं तु साक्षान्मूर्त्तः, जगन्मोहकस्य मन्मथस्यापि मोहक इत्यर्थः। कामस्य चेन्मोहो जातस्तर्हि तासां मोहने को बिस्मय इति। एतासां मोहने प्राकृतकामस्यासामर्थ्यात् अयमेब मोहक इत्यर्थः। अयमाशयः यावत्पर्यन्तं कृष्णो रासबिलासं कृतवान् तावत्पर्य्यन्तं कामस्यापि निरोधो जातः। स्वरूपे निमग्नत्वान्निष्क्रियो जात इति। तदवछिन्ने काले सर्वे जनाः मत्प्रवणचित्तत्वं न स्वार्थे साधयंत्विति विचार्य कामं मोहितवानिति। कृष्णस्वरूपे स्थितः अयं कामस्तु चिन्मयात्मकः गोपीजनसेव्यः। "एताः परं तनुभृत" इत्यादिना तु तासु उद्धवादिनमस्कार्या सुदृष्टं ॥२॥

तं विलोक्यागतं प्रेष्ठं प्रीत्युत्फुल्लदृशोऽबलाः ।
उत्तस्थुर्युगपत् सर्वास्तन्वः प्राणमिवागतम् ॥३॥

प्रथमं तासां तत्र गोचरे किंचिद्दूरे दिशि आविर्भूयायान्तं ससम्भ्रमाः जाता इत्याह तं विलोक्येति, तथोक्तं पाराशरेण-"ततो ददृशुरायातं विकाशिमुखपंकजमिति"। तदर्थं सर्वमन्वेषितं गानं रोदनमपि प्राप्तिसाधनं ज्ञात्वा तमागतं दूरादेब बिलोक्य सम्यक्त्वेन दृष्ट्वा परिचित्य विरहाग्नितापप्रदमपि श्रेष्ठं जीवनं हेतुत्वात्। अबलाः बिरहार्त्तिजनितदेहसामर्थ्या अपि तद्विश्वासाभावात् सकृदात्मानं दर्शयित्वा पुनरप्यदृश्यो भबिष्यतीति शङ्कया सर्वा पुण्यत एकदैव उत्तस्थुः ससंभ्रममुत्थिता इति। दर्शनानन्तरमेब प्राप्ता उत्फुल्ला बिकसिता दृशो यासां ता तत्र दृष्टान्तमाह-तन्वा करचरणादयः आगतं

प्राणं दृष्ट्वा यथोत्तिष्ठंति सचेतना भवन्ति तद्वदिति ॥ एवं तावत्सर्वासामेव विरहतापनिवृत्तौ सत्यां तासां यूथमुख्यानां तत्तद्भावोदयेन पूर्वचिंतितानि विरहालापैः मुखनिर्गतानि शृङ्गग्राहिकान्यायेन पृथक्कृतानि चेष्टितानि अभिनयेन दर्शयति काचिदिति पञ्चभिः। काचिदिति श्रीकृष्णप्रियात्वान्नामानुक्तिः ॥३॥

काचित् कराम्वुजं शौरेर्जगृहेऽञ्जलिना मुदा ।
काचिद् दधार तद्बाहुमंसे चन्दनरूषितम् ॥४॥

ययान्तर्द्धिसमये कराम्बुजस्पर्शनमेव चिन्तितं सा कापि शौरेरिति शुकोक्तिः। काचित् कराम्बुजमिति शैत्यहेतुत्वं व्यञ्जितं अञ्जलिना संहतहस्तद्वयेन गौरवपूर्वकं स्वविनयज्ञापनं च मुदा हृदयोल्लासे निजगृहे पुनरप्यन्तर्द्धानशङ्कयेति गूढाभिप्राया, वहु-प्रदेशचंक्रमणेन संबलनशङ्कया बा स्पर्शजनितानन्दप्राप्तीच्छया वा कराम्बुजग्रहणमिति। काचित् गौरवं परित्यज्य तद्बाहुं स्वांसे दधार यतोप्यन्तरगा भविष्यामीत्याशया सदालिङ्गिता स्यामीत्याशया बा एकं बाहुं स्वस्कन्धे धृतवती। अनेन पीताम्बरधारणात, मुदेति पूर्वक्लेशनिवृत्तिः सूचिता। कीदृशं बाहुं चन्दनभूषितं चन्दनेन भक्तिच्छेदरचनया कयाचिल्लिप्तं बिरहतापतप्तांसे स्थापनं तत्तापनिवृत्त्यर्थमेब, तत्र हेतुत्वेन बिशेषणं चन्दनभूषितमिति। रूषितमिति पाठे स एवार्थः॥४॥

काचिदञ्जलिनागृह्णात्तन्वी ताम्बूलचर्वितम् ।
एका तदङ्घ्रिकमलं सन्तप्ता स्तनयोरधात् ॥५॥

अधरसीधुना प्यायपयस्व न इति यया प्रार्थितं सा अञ्जलिना संहतहस्तद्वयेन ताम्बूलचर्वितं अधरामृतं इव सहितमेवागृह्णात। कीदृशी विप्रलम्भेऽधरामृतपानमन्तरेण कृशाङ्गी जाता, एका काचित् यया प्रार्थितं "चरणपंकजं सन्तमञ्च ते रमण

नः स्तनेष्वर्पयाधिहन्निति"। सा स्वमनोरथं सफलीकर्त्तुं संतप्तस्तनयोः बिरहतापतप्तयोस्तदङ्घ्रिकमलमधात न्यस्तबती तासां सम्मर्दे तत्रोपबिश्येति आर्थिकोऽयमर्थः, अन्यथा तदङ्घ्रिकमलस्थापनमशक्यं स्यादिति ॥५॥

एका भ्रुकुटिमाबध्य प्रेमसंरम्भविह्वला ।
घ्नतीवैक्षत् कटाक्षेपैः सन्दष्टदशनच्छदा ॥६॥

ययोक्तं "पतिसुतान्वयेति" प्रणयकोपबिशेषबती सा एका यूथमुख्या दूरे स्थिता कौटिल्येन भ्रुकुटिं भ्रूलतां आबध्य बक्रीकृत्य भ्रुकुटिवन्धनेन चित्तकौटिल्यं लक्षितम्। प्रेमसंरम्भैः प्रकोपः सर्वेन्द्रियस्तम्भहेतुना तेन बिह्वलाऽत एव संदष्टदशनच्छदा सम्यक् दृष्टो दशनच्छदो अधरोष्ठो यया सा लोभनियमनार्थं पूर्वं प्रतिश्रुताबलासाबितरणादृशः। स्वभावनियमनार्थं प्रेम संरम्भः कटाक्षे नेत्रे प्रान्तास्तैर्ये आक्षेपाः परिभबाः, यद्वा आसमंतात् क्षिप्यन्ते इति आक्षेपा बाणास्तैः घ्नन्तीब ऐक्षत् स्वातन्त्र्यनिराकरणपूर्वकस्वान्ततासम्पादनार्थं कटाक्षैर्हननं सूचितमिति। तदुक्तं बिष्णुपुराणे "काचिद्भ्रूभङ्गुरं कृत्वा ललाटफलकं हरिम्। बिलोक्य नेत्रभृङ्गाभ्यां पपौ तन्मुखपङ्कजमिति"। यया चिन्तितं "कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते जड़ उदीक्षतां पक्ष्मकृद्दृशामिति" मुखदर्शनमेव प्रार्थितम् ॥६॥

अपरानिमिषद्दृग्भ्यां जुषाणा तन्मुखाम्बुजम् ।
आपीतमपि नातृप्यत् सन्तरतच्चरणं यथा ॥७॥

सा अपरा यूथमुख्या अनिमिषदृग्भ्यां तन्मुखाम्बुजं जुषाणा आस्वादयन्ती दृशोः पानकरणत्वमुक्तं लक्षणया मुखाम्बुजे लाबण्यरूपमकरंदस्य पेयत्वं सूचितं इब द्रव्यस्यांत-

प्रवेशनं पानमिति पानलक्षणम । अत्र च नेत्रद्वारेण **मुखाम्बुज**-लाबण्यस्य हृदये प्रवेशनमेव पानमिति । आपीतमपि **सम्यक्** दृष्टमपि परमप्रीत्या पुनः पुन सेबमानान्नातृप्यत् अलमिति । **नाम्**न्यतेति अनेन बिषयसौन्दर्यं प्रवृत्तिहेतुः न तु प्रयोजनाभावः प्रतिबन्धकोऽस्तीति । तत्र दृष्टांतः सन्तस्तच्चरणं यथेति । सार-ङ्गानां पदाम्बुजमिति ते यथा पदाम्बुजमित्युक्तम् । ते यथा पदाम्बुजं सदा सेबमाना अपि अलमिति । न मन्यन्ते तृप्त्य-भावे दृष्टांतः । ननु सर्बांशेन सन्तो हि प्राप्तव्यमस्ति । चर-णांबुजे सर्वेषां साहित्यमस्ति । अधरामृते न कस्याप्यंशोऽस्ति अत एतस्य सर्वतो वैशिष्ट्यं सूचितमिति ।।७।।

तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण हृदि कृत्य निमील्य च ।
पुलकाङ्ग्युपगुह्यास्ते योगीवानन्दसंप्लुता ।।८।।
सर्वास्ताः केशवालोकपरमोत्सव-निर्वृताः ।
जहुर्विरहजं तापं प्राज्ञं प्राप्य यथा जनाः ।।९।।

यया "न खलु गोपिकानन्दनो भवानि" त्युपक्षिप्तं सा काचित् पूर्वस्यास्तु दर्शनमात्रमेबापेक्षितं अस्यास्तु ताबत्विशे-षोदयाद्वैशिष्ट्यं तस्यास्तु अनिमिषदृग्भ्यामिति लिङ्गात् सार-ल्यं मुग्धत्वात् काचिद्दूरे स्थिता ध्यानविक्षेपकगोपीसङ्गत्यागेनेति । सर्बाङ्गलाबण्यग्रहणासक्तिः निरूपिता यस्याः श्रीकृष्णस्या-दर्शने सर्वविवेकशून्यत्वमासीत् , तं कृष्णं सर्बाङ्गलाबण्य-विभागेन हृदि कृत्य स्वमनसि स्थिरीकृत्य तत्र नयद्वारमाह नेत्ररन्ध्रेणेति । पुनर्नेत्रे निमील्य बहिर्निसारणशङ्कया निमीलनं बस्तुतस्तु प्रेम बिवर्त्तो नाऽनुसंधानं न चोद्देशस्तथापि तस्या अनुरागोत्कण्ठ्यं विदग्धत्वं सूचितम् । अनेन सर्वेन्द्रियवर्तीनां स्वान्त एव निरोध उक्तः । कृष्णे हृदि प्रविष्टे सति स्वान्त

एव स्थितानां सर्वेन्द्रियाणां विषयाणां अनुभवो जातः । अतस्तमुपगुह्य हृद्येवालिङ्गनं आस्ते स्म तूष्णीं आनन्दसमुद्रे निमग्ना जाता । यतः पुलकाङ्गी हृद्यालिङ्गने जाते न कस्या अपि गोचरेतेतिभावः । अन्याभिरनुपलक्षिता परमानन्दमनु-भूतवतीति । ननु साक्षात्स्पर्शमन्तरेण कथमानन्दावाप्तिस्तत्र तस्या अनुभव एव प्रमाणं तत्र वहिर्दृष्ट्याभावेपि । अन्तः सुखपूर्णत्वे दृष्टांतः योगी च योगी यथा ध्यानयोगेनैवान्त-रानन्दपूर्णो भवति, बहिः सम्वेदनाभावात् तथेयमप्यानन्द-सम्प्लुता बहिः सम्वेदननरहिता चासीत कार्यानुसंधानाभावात् नह्यन्तः पूर्णे आनिन्दे कश्चन कामो नामावशिष्यत इति । अत एवोपसंहारे एतस्यावैशिष्ट्यं चोक्तं न केबलमेतासां यूथ-मुख्यानामेव मनोरथपूर्त्तिर्जाता किन्तु सर्वासामपि-इत्याह सर्वा इति । एवं यूथमुख्यानां अभीष्टप्राप्तौ सत्यां सर्वासाम-थानन्दावाप्तिप्रकारं दर्शयति । यास्तु विरहजेनाग्निना मूर्च्छिता इवासन् ताः, केशवः प्रशस्तकेशवान् , यद्वा कस्य सुखस्य स्पर्शः कामस्तं बशयतीति, साक्षान्मन्मथमन्मथ इत्युक्तत्वात् उपक्रमे तूक्तमेव "तासां तत्सौभगमदं बीक्ष्य मानं च केशव" इत्युक्त-मेव तासां मदमाननिवृत्तौ सत्यां स्वत एवाऽऽविर्भूत इति । तस्य केशवस्यालोकस्तत्कर्तृको वा तेन परमोत्सवः परमा-नन्दस्तेन निर्वृत्ताः सत्यो विरहजं तापं जहुः बिस्मृतबत्यः इत्यर्थः । प्राज्ञं ईश्वरं ब्रह्मज्ञं वा सौषुप्तं वात आचार्यैरेवं व्याकृतत्वात् । यद्वा प्राज्ञं रसज्ञं प्राप्य रसजिज्ञासवो जनाः यथा तापं जहाति तद्वदिति ।।८-९।।

ताभिर्विधूतशोकाभिर्भगवानच्युतो वृतः ।
व्यरोचताधिकं तात पुरुषः शक्तिभिर्यथा ।।१०।।

एवं निर्वृत्तातापानां तासां सम्बन्धेन श्रीकृष्णस्यापि कान्त्य-

तिशयो जात इत्याह ताभिरिति याभिर्मदमानौ त्यक्तौ ताभिरिति। इदानीं श्रीकृष्णाविर्भावेन बिधूतशोकाभिः निरस्ताकृतार्थत्वप्रतीतिरिति । अकृतार्थत्वमन्यत्वमेव शोकस्तस्य निबृत्तत्वात् परमोज्वलत्वं जातमत एव रमणयोग्याभिस्ताभिर्वृतो वेष्टितः, यद्वा याभिः कात्यायन्यर्चनेन पतित्वपुरः सरं रमणं याचितं ब्रतप्रार्थितः सन् वरं प्रादात "मयेमा रंस्यथ क्षपा" इति प्रतिश्रुतं ताभिः कृत्वा अधिकं नित्य-सिद्धाभ्योऽप्यधिको व्यरोचत। भगबानपि ऐश्वर्यविशिष्टोऽपि तदनन्यतास्वेब उरीकृत्वात्। ताभिर्वृत ऐश्वर्यादधिकं व्यरोचत, यतोऽच्युतः तास्वनुरागच्युति रहितः, यद्वा बिप्रलम्भात् पूर्वं यथा "बाहुप्रसारे"त्यादि "रेमे तत्तारलानन्द इत्या"दिनोक्तं रमणं ततोऽप्यधिकं व्यरोचत। बिप्रलंभेन स्थायिभावस्य पुष्टत्वात् शोभाभरः सूचितः। तत्र दृष्टान्तमाह पुरुषः परमेश्वरः ईश्वर द्योतिकाभिः मायाद्याभिः शक्तिभिस्तदनुकूलाभिः सर्वोपकारकत्वं न प्रकाशते तद्वत्, यद्वा प्राकृतः पुरुषो जीवः क्रियाज्ञानादिशक्तिभिर्वृतः शोभते । स्वर्गादिमोक्षान्तपुरुषार्थप्राप्तियोग्यो भवति । तदभावे न किंचित तद्वत् भगवान् सर्वकामपूर्णोऽपि ब्रजसुन्दरीसङ्गमन्तरेण तिरोधाने मधुररसपराकाष्ठां न लब्धवान् । तद्रसदर्शनाधिकृतोपि जनो निर्वृत्ति नाम इदानीं ताभिर्वृतं दृष्ट्वा निर्वृतो भवत। तातेति सम्बोधनं स्वानुभवो मया कथ्यते तत्राबधानं कुर्बिति। यतः एकाकिनैब रसः न प्राप्यतेऽतो रसवृद्ध्यर्थं ताभिः सङ्गतः शुशुभे स्वदृष्ट्याभिप्रायेण श्रीशुकः स स्वानुभवं कथयति ॥१०॥

ताः समादाय कालिन्द्या निर्विश्य पुलिनं विभुः ।
विकसत् कुन्दमन्दारसुरभ्यनिलषट्पदम् ॥११॥

व्यरोचतेत्युक्तं वैशिष्ट्यं प्रस्तुतश्लोकेन निबध्नाति रासक्रीड़ार्थं यत्कृतबांस्तदाह ता इति यासां मदमाननिवृत्यर्थमन्तर्द्धानेन स्थितः ताः समादाय हास्यनखस्पर्शभावगर्भेण हस्तग्रहणादिना सम्यक्तया गृहीत्वा यत्र पुलिने गानं कृतं ततोऽपि बिशालं रासयोग्यं पुलिनान्तरं निर्बिश्य तासां याबन्मनोरथं बिलासं चिकीर्षत व्यरोचतेति पूर्वेणैबान्वयः । कालिन्द्या इति पदेन श्रृङ्गाररसप्रबाहभरसूचितः। बिभुरिति सर्वसंनिहितत्वेन सर्वासां सम्माननेन च सामर्थ्यमुक्तम्। पुलिनस्य श्रृङ्गारोद्दीपकत्वेन रासबिलासयोग्यतया विशिनष्टि बिकसदिति बिकसन्ति कुन्दमन्दारपुष्पाणि तैः सुरभिर्योनिलस्तेन षट्पदा यस्मिन् कालिन्दीसम्बन्धेन बायोः शैत्यमुक्तम्, कुन्दमन्दारसम्बन्धेन सौरभ्यं बननैकट्यान्माद्यम । अनेन परमोद्दीपकसामग्रीसम्पत्सूचितेति। सर्वास्याः सामग्र्याः कामोद्दीपकत्वं निरूपयन् उज्वलतामाह ॥११॥

शरच्चन्द्रांशुसन्दोहध्वस्तदोषातमः शिवम् ।
कृष्णाया हस्ततरलाचितकोमलवालुकम् ॥१२॥

शरदिति, शरत्कालीनो यश्चन्द्रस्तस्यांशुनां किरणानां सन्दोहः समूहस्तेन ध्वस्तं दोषा तमः रात्रिसम्बन्धितमो यस्मिन् अनेन शरदर्चौं उज्वलत्वं प्रसन्नताहेतुत्वं च सूचितम् । चद्रस्याऽपि पूर्णत्वमुज्वलत्वं सूचितम। ध्वस्तेति रात्रिसम्बन्धितमो निरसनेन दिबसबत् प्रकाशाधिक्यं च सूचितम्। कृष्णाया इति नामतः बर्णतश्च साम्येन तद्बिलाससाहाय्यं साहचर्यं च सूचितम् । हस्तेति हस्ता इब तरलास्तरङ्गास्तैराचिता नीचोच्चराहित्येन बिस्मिता कोमला बालुका यस्मिन्। अनेन कोमलतया स्पर्शमात्रतः पादयोः सुखप्रदत्वं सूचितम ॥१२॥

तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजो
मनोरथन्तंश्रुतयो यथा ययुः ।
स्वैरुत्तरीयैः कुचकुङ्कुमाङ्कितै-
रचीक्लृपन्नासनमात्मबन्धवे ॥ १३ ॥

अधुना तासां प्रेम-बिजृम्भितं चेष्टितमाह तद्दर्शनेति, ईषन्मदमानसत्वे येनान्तर्हितं तस्य दर्शनात् य आह्लाद आनन्दस्तेन बिधूताः समूलं नाशिताः हृद्रुजो विरहजार्तिपीडाः यासां ताः, यद्वा तस्य दर्शनं ज्ञानं विचार इति यावत् इदं रासोपयोगिस्थलं अत्र बने एवं बिहारः कर्तव्यः, अत्र कालिन्द्यां एवं जलबिहारः कर्तव्य इति तेन निर्धारणेन समूलं नाशिता हृदयपीडा यासां ताः। इतः परमेबाहितो नाभबिष्यतीति निश्चिन्ता इत्यर्थः। मनोरथान्तं मनोरथानां वांछितात्मानामन्तं परां काष्ठां ययुः प्रापुः भाविनोर्थस्य निश्चयात्। यथा श्रुतयः कर्मकाण्डे ईश्वरमपश्यंत्यस्तप्ता भवन्ति, ज्ञानकाण्डे उपासनाकाण्डे चेश्वरं दृष्ट्वा मनोरथान्तं प्राप्नुबन्ति पूर्णमनोरथा भबन्ति तद्वदति। यद्वा श्रुतयो नित्यबिहारिणं तत्कदम्बकमध्यस्थं किशोराकृतिश्रीकृष्णं दृष्ट्वा कामितबत्य ततस्तासां वरो दत्तः। "पुरा सारस्वते कल्पे ब्रजे गोप्यो भविष्यथति" उपनिषद्रूपास्ताः एव कुमारिका जाताः। एता यथा मनोरथान्तं मनोरथानामन्तमबसानं ययुः परिपूर्णकामा बभुवुस्तथा अन्या अपि सादि नित्याः सर्बा अपि मनोरथान्तं ययुः। अस्य रासबिलासस्यैतत प्रयुक्तत्वात्। अत एब स्वैरुत्तरीयैः कुचोपरि विन्यस्तै सूक्ष्मैः कोमलैः तैरेबासनमचीक्लृपन् कल्पयामासुः। आसनरचनप्रयोजनमाह जिज्ञासा या किंचित्पृष्टकामा अन्वेषणजनितश्रमजलेन कुचकुंकुमस्यांकितत्बम्। अत एब कुचकुंकुमांकितै रित्युक्तम्। यद्वा

विरहार्तिजनितरुदिताश्रुधारासिक्तत्बात् उत्तरीयानां कुचकुंकुमांकितत्बम। अत एब स्वीयार्तिनिवेदनमपि सूचितम। ननु गौरबोचितप्रीतिविषयत्वेन चेदयमाराध्यस्तर्हि स्वैरुत्तरीयैरासनकल्पनं कथमिति चेत्त्राह आत्मबन्धवे। आत्मा च बन्धुत्वं प्रेष्ठार्बाधभूतप्रेमबन्धनहेतुश्च तस्मै, यद्वा आत्मनः चित्तं वध्नाति स्वस्मिन् संयोजयतीति तस्मै, यद्वा आत्मन क्षेत्रज्ञस्य बन्धवे अन्तरङ्गाय, अत एव तस्यासन कल्पन मुचित एव, यद्वा कुचकुङ्कुमाङ्कितैरिति लिङ्गात् कुचकुंकुमछद्मना स्वानुराग एव तस्यासनत्वेन कल्पितवत्यर्थः ॥ १३ ॥

तत्रोपविष्टो भगवान् स ईश्वरो
योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः ।
चकास गोपी परिषद्गतोऽर्चित-
स्त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुर्दधत् ॥ १४ ॥

अन्यथा पुनरप्यन्तर्हितो भवेदिति तत्रासने उपबिष्टः स इति स्वरूपं भगवानपि भगबतामुपेक्ष्य ईश्बरोऽपि ईश्वरतां पृष्ठतः कृत्वेति गोपी-परिषद्गतश्चकास शुशुभे। परितो मण्डलाकारेणोपविष्टा गोप्यस्तन्मध्यवर्त्ती सभापति भगबानुपबिष्ट इति। यद्वा भगबान् भगो भाग्यं तद्वान् अन्यथा गोपीनामुत्तरीयासनं रसविशेषकं न स्यादिति! कीदृश ईश्वर-अचिन्त्यशक्तिमान्। अन्यथा कोटियूथानां परिछिन्नं एकेन बपुषा सम्माननेन स्यादिति। गोपीनां सुलभत्वेपि अन्येषां दुर्लभता महायोगीश्वरेति योगीश्बरैः सनकादिभिः सिद्धैरेव हृदि इव ध्यानेन कल्पितमासनं यस्य तत्रापि वैभवाबस्थस्य नतु साक्षात् स्वरूपस्येति। यद्वा भगबान् ईश्बर इति ब्रजेन्द्रपुत्रत्बात् ताभिरर्चितः हस्तपादादिसम्मर्द्दननर्मस्मितादिना च सम्भाबितः पूर्वं मदमा-

नाभ्यामबज्ञातत्वेन परित्यज्य गतत्वात्, इदानीं तिरोधानशङ्कया बहुमानितः। अत एव त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुर्दधत्। त्रैलोक्ये-उपरि वैकुण्ठपर्यन्तं या लक्ष्म्यः अधः पातालपर्यन्तं या लक्ष्म्यः भूमौ भूर्लोकपर्यन्तं या लक्ष्म्यो याबन्त्यश्च तासामेकमेब पदं स्थानं बपुर्दधत्। अन्येन त्रैलोक्ये सारभूतशोभा सम्पदो नान्यत्पदमित्यर्थः। तदुक्तमत्रैब "अक्षण्बतां फलमिदमि" ति ॥ १४॥

सभाजयित्वा तमनङ्गदीपनं
सहासलीलेक्षणविभ्रमभ्रुत्वा ।
संस्पर्शनेनाङ्ककृताङ्घ्रिहस्तयोः
संस्तुत्य ईषत्कुपिता बभाषिरे ॥१५॥

तदेवं पूर्वं धर्मोपदेशेन दूषितचित्ताः "परोपदेशे पाण्डित्यमि"ति मनसि निधाय गूढप्रणयकोपाः धर्मं जिज्ञासमान इव साक्षात्तस्य दोषं स्वमुखेन बक्तुमपारयन्त्य स्थिता इदानीं तासां प्रश्नपूर्वभूमिकामाह सभाजयित्वेति, येन पूर्वं भर्तृशुश्रूषणमिति धर्मोपदेशं कृतम्। स्वपूर्वोक्तप्रकारेण सभाजयित्बा स कृष्णेति मन्युगोपनमुक्तम्। सहासलीलेक्षणबिभ्रमभ्रु बा सहासलीलेक्षणं तेन बिभ्रमन्ती इतस्ततश्चलन्ती या भ्रूस्तया, तत्र कामोद्दीपने कामेण पंच बाणा इब पंच साधनानि हासो-लीलाईक्षणं बिभ्रमो विलासो भ्रूश्चेति चतुर्नामुपलब्धिस्थानं भ्रूरिति कामोद्दीपनार्थं नानाबिलासप्रकटनमित्यर्थः। एतैः साधनै रनङ्गं निरन्तरमङ्गाभावं स्वशरीराऽनुसन्धानाभावं दीपयतीति, यद्बा अनङ्गमपि अङ्गरहितमपि दीपयति साङ्गीभाबेन प्रकाशयतीति अत एवांककृताङ्घ्रि हस्तयोः अङ्के कृतयोस्ताभिरेब स्थापितयोरंघ्र्योर्हस्तयोश्च संस्पर्शनेन नानाविधवैदग्धप्राकट्येन श्रमनाशकहस्तमार्दबव्यंजकसम्मर्द्देनेन संस्तुत्य गुणप्रशंसनं कृत्वेति। ननु किमर्थं सम्मानमपि स्तुतिश्च अत्यादरः शंकनीयः। प्रस्तुतस्य रासबिलासस्येतिकर्त्तव्यता सम्पाद्यतामिति चेत्तत्र स्वाभिप्रायसङ्गोपयन्त्य ईषत्कुपिताः। किमनेन बिलासेन नु तर्कं दुःखमेवेति स्वमनसि बिचार्य स्वमुखे तस्य दोषप्रकाशनं करोति चेत्तदा बिलासदार्ढ्यं भबतीति निश्चित्यैषत्प्रणयकोपं व्यंजयन्त्यः इब बभाषिरे, यद्बा कुपितास्तद्दोषदर्शनेन परित्यज्य गतत्बात् ईषत् किंचित् स्बल्पेन पद्येनार्थं भङ्ग्या गाम्भीर्येण बभाषिरे पृष्ठबन्त्यः, यद्बा सहासलीलेक्षणविभ्रमभ्रु बा सभाजयित्बा तस्मिन्नबसरे सैब सत्कृतिरिति। तदुक्तमत्रैव "तत्सत्कृतिं समधिगम्य विवेश गोष्ठं स व्रीडहासबिनयं यदपांगमोक्षमिति"। हासलीलेक्षणादयस्तु कोपाच्छादका इति। यद्बा एवं सर्वभावेन प्रपन्नानपि भबान् त्यजतीति कृष्णे दोषदृष्ट्या ईषत्कुपिता बिवादमिव कुर्वन्त्यो बभाषिरे पप्रच्छुरिति ॥ १५ ॥

गोप्य ऊचुः—

भजतोऽनुभजन्त्येक एक एतद्विपर्ययम् ।
नोभयाश्च भजन्त्येक एतन्नो ब्रूहि साधु भोः ॥१६॥

पक्षत्रयं मनसि बिचार्य पृच्छन्ति भजत इति, भजतोऽनु तद्भजनानुसारेण भजन्ति, एके तद्विपर्ययं अभजतोऽपि भजन्ति, अन्ये भजतोऽभजतश्च न भजन्ति इति प्रश्नत्रयं ते के साधु यथा स्यात्तथा एतन्नोऽस्माकं ब्रूहि। अत्र केऽधिकारिणः किं तेषां फलं कियती कीर्त्तिरिति तत्सर्वं बिबिच्यास्माकं साधु सुबोधं यथा भवति तथा ब्रूहीति। भो इति सखित्बद्योतकं सम्बोधनं, अतिप्रियत्बान्नामानुक्ति रिति बा, तत्र भजनाऽनुसारेण ये भजन्ति ते किं धूर्त्ता आहोस्बित्समीचीना इति। यथा कश्चित्पादसम्बाहनं कस्यचित् करोति सोऽपि तस्य चेत्पादसम्बा-

हनं करोति तदा किं फलं स्यादिति । तदेवं कर्तव्यमिति पक्षे तदेव फलं नान्य इति । निरपेक्षकर्म्मे तु सन्देह इब अभजन्तो न भजिष्यतीति । निश्चितस्य भजने क्वचिद्दोषोऽपि भवति यथा निःकामस्य योगिनो भजते । कामिनीभजनमिवेत दृष्टान्तः । अत्र क्वचिदुपकारः क्वचिदपेक्षितोऽर्थः क्वचिद्धर्म इति एवं निर्द्धारितं फलं व्यक्तमिति । भजदभजतोरभजने किं फलं तदपि बक्तव्यम् ॥ १६ ॥

श्रीभगबानुबाच—

मिथो भजन्ति ये सख्यः स्वार्थैकान्तोद्यमा हि ते ।
न तत्र सौहृदं धर्मः स्बार्थार्थं तद्धि नान्यथा ॥ १७ ॥

तत्र प्रथमप्रश्ननिर्धारितं फलमाह ये मिथो भजन्ति ते स्वार्थैकान्तोद्यमा स्वार्थः दृष्टमात्रफलनिमित्तं स्वस्मिन्नेव चैकस्मिन्नतो निष्ठाफलं यस्य तथाभूत उद्यमो येषां ते तु हित्वा ज्ञात्वैबान्योन्यं भजन्ते तारतम्येन भजन्ति तेषां स्वार्थमेबोद्यमः । अतोऽन्योन्यभजने सौहृदं स्नेहो धर्मो भवेत् तदुक्तं भजन्ति ये यथा देवान् देवा अपि तथैवतान् । गो-महिष्यादिभजनवत् प्रत्युपकारापेक्षो उपकारे धर्मस्नेहाभावस्तारतम्याभावश्च सूचितः । उपकाराकरणे कोऽपि उपेक्षारूपदोषदर्शनात् दुग्धाभावे गोमहिष्यादिनामुपेक्षणवदिति । अतो यत्र प्रत्युपकारापेक्षाप्यस्ति तत्र सौहृदं न च धर्म्म इति, हीति निश्चयेनाधर्म्मार्थमिव प्रतीयमानं भजनं स्वप्रयोजनार्थमेवेत्याह तद्भजनं स्वार्थार्थमेव अन्यथा उक्त प्रकारणादन्यप्रकारो नास्तीति । हे सख्य इति सम्बोधनमप्रतारणायेति । आवयोरन्योन्यभजनेनैष प्रकार इति भावः ॥ १७ ॥

भजन्त्यभजतो ये वै करुणाः पितरो यथा ।
धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदं च सुमध्यमाः ॥१८॥

द्वितीयप्रश्नस्योत्तारमाह - भजन्तीति, यथेति सर्वत्रान्वेति, ये अभजतोऽपि भजन्ति अतीव-शैशवेन सामर्थ्येन वैष्णवादीन् वा अभजतोऽपि जनान् ये भजन्ति तेषामपेक्षितदाने पुष्णान्ति प्रत्युपकारानपेक्षतया ते वैष्णवाः यतः करुणाः कृपालवः । यथाहं तथा तेऽपि तत्र दृष्टान्तः यथा पितरः स्नेहेन धर्मेणापि भजन्तो दृश्यन्ते । तत्र सौहृदस्यावश्यकत्वं धर्मस्यानुषङ्गिकत्वम्-तदुक्तं मनुस्मृतौ "वृद्धौ च मातापितरौ, भार्या साध्वी सुतः शिशुः । अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्त्तव्या मनुरब्रवीत्" । अत्र निरपबादो विप्रतिपत्तिरहितः सम्पूर्णो धर्म रिति । अतएव धर्मे सौहार्दे बा उपकारस्यावश्यकत्वात् । प्रतियोगिनो भजनशंकायाः अप्यभाबात् धर्मस्य निरपवादत्वं निर्दोषत्वमित्यर्थः । गोः पङ्कधारणवत् प्रत्युपकारानपेक्षत्वं च केचित्क्रियमाणमपि भजनं नाङ्गीकुर्वन्ति, निरपेक्षत्वादेव सौहार्देऽपि अनुयोगिप्रतियोगिनोः साम्याभावः । अनुयोगिनस्तु धर्मोपपन्ने दृष्टत्वात् । प्रतियोगिनस्तु धर्मः धर्मो नाप्यधर्मः । सापेक्षस्वभावादेवेति, हे सुमध्यमा इति सम्बोधनमुक्तार्थस्य विश्वासाय स्वहृदयानुसारेण सर्वत्रैवमेबोन्नेयमिति ॥ १८ ॥

भजतोऽपि न वै केचिद् भजन्त्यभजतः कुतः ।
आत्मारामा ह्यात्मकामा अकृतज्ञा गुरुद्रुहः ॥१९॥

तृतीयप्रश्नोत्तारमाह - भजतो इति, केचिन्महापुरुषा भजतोऽपि जनानभजन्ति, अभजतां का कथा ते च चतुर्विधा । आत्मरामा अनुसन्धानरहिता यत आत्मन्येव रमन्तेऽतोभजन्तो देहमपि नानुसन्दधते दैहिकानां भजनस्य का कथेति, अन्ये आत्मकामाः अतोऽधिकस्य कामस्यावकाशाभाबादन्यभजनं नापेक्षन्ते सर्वकामपूर्णत्बात् । यथा भुक्तबति पुरुषे भुंदर्वेत बचनस्य

वैयर्थ्यम् । अत उभयेषां भजने सार्थस्य धर्मस्यात्राऽप्यसिद्धे एतयो रुभयोः स्वरूपकथनमेव ; अतोऽपि आत्मारामत्वमाप्तकामत्वं च न संजघटीति । तयोरुपेक्षया बिलासस्य स्वीकृतत्वात् । तृतीयपक्षमाह.- अकृतज्ञा इति अन्यकृतं भजनमुपकारं न जानन्ति, ये तु प्रत्युपकारसमर्था अपि तदीयोपकारसापेक्षा अपि प्रत्युपकारकर्तृत्वेन भजन्ति तेषामज्ञानमेव हेतुरभजत इति । ते अकृतज्ञा इति अहं कृतज्ञो न भवामि । अस्योत्तरं अग्रिमश्लोके वक्ष्यति । "मया परोक्षं भजते" ति । चतुर्थपक्षमाह ये तु सामर्थ्ये सत्यपि ज्ञात्वैव न भजन्ति तेऽतिनिर्दया इत्याह गुरुद्रुह इति । यः कश्चित्स्वस्याभीष्टसम्पादको यश्च पोषकः स तु गुरुः पूज्यस्तस्यैव द्रुह्यन्ति ये द्रोहस्य द्वैविध्यं जीवनहरणेन सर्वस्वहरणेन वा तत् द्वयं जातमेवासामभिप्रायेण । तथा हि विप्रलम्भे दशम्यवस्थायाः सन्निहितत्वात् जीवनहरणमपि सम्भावितमस्ति । सर्वस्वहरणं च जातमेव गृहसुखस्यापहृतत्वात्, यद्वा सर्वस्वं तेन सह बिलासं तस्याऽप्यपहृतत्वात् । तेन गुरुद्रोहेन तु दुःखस्यानिवारणात् एतादृशः ते गुरुद्रुहस्त्वतिकठिना इत्यर्थः । धर्म-सौहार्दापेक्षाशून्यत्वादेवोऽपेक्षा इत्यर्थः । अस्यापि परिहारस्योत्तरश्लोके वक्ष्यति "नाहं तु सख्य" इति । इदानीं पक्षत्रयस्य विद्यमानत्वात् गुरुद्रोहः परिशिष्यतेऽत एव चरमकोटिगतिमात्मानं मत्वा गुरुद्रोहमिव धन – सादृश्यदर्शनात् अक्षिसन्निकोचैः परस्परगूढास्मितमुखीस्त्वादृष्ट्वाह नाहमिति । आचार्याणां हृदयं अभिज्ञाः केचनैवं वदन्ति । आसु गुरुशब्दो नोपपन्नः । स्वमुखेन दास्यस्वीकारात् तदधीनत्वाच्च उपपन्ने वापि द्रोहस्यासम्भवः । मदमानसद्भावेन रसविकलत्वमाकलय्य रसवृद्ध्यर्थमेवान्तर्हितत्वात् । तद् द्रोहेणेति अतो कृतज्ञत्वं परिशिष्यते । तत्रापि चरमकोटिगतत्वमेव वक्ष्यति च भ्रमरगीतायाम्

"व्यसृजदकृतचेताः किं नु सन्धेयमि" ति, किं च "परिचरति कथं तत्पादपद्मं तु पद्मा ह्यपि बत हृतचेता उत्तमश्लोकजल्पैरिति" । अहो बताविज्ञस्य पादपद्मं कथं श्री सेवते इति आचार्यैर्व्याकृतम । तथा चाग्रे वक्ष्यति कुरुक्षेत्रयात्रायां गोपीसंसदि "अप्यवध्यायथास्मान् स्विदकृतज्ञाविशङ्कयेति" श्रीमुखेन स्वीकृतमिति । अत एवाकृतज्ञत्वं तस्मिन्नापद्यते । तस्यापि परिहारं करिष्यति अनुरूपमुत्तरं दातुमलभमान एव तत्समप्रत्युपकारासामर्थ्यात् "न पारयेऽहमिति" पदेन स्वस्मिन् ऋणीत्वं तासु परिपूर्णत्वमेव समर्थितम् मुखेन वदति एतेषां मध्ये कोऽपि न भवामि दोषचतुष्टयाभाव कथित । हृदयेन तु स्वदोषमाकलय्य प्रोक्तं तद्वः प्रतियातु साधुनेति । ननु पादक्रमेण चरमकोटित्वं गुरुद्रोह एव भवति । तत्र समाधत्ते पादक्रमादर्थक्रमो बलीयान् । अग्निहोत्रं जुहोति यवागूं पचतीतिवत् ज्ञेयम् ।। १९ ।।

नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्
भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये ।
यथाधनो लब्धधने बिनष्टे
तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न बेद ।।२०।।

इदानीं स्वदोषान् स्वमुखेनोद्भाव्यान्यत्र संचारयतमालक्ष्य स्मितेनैवान्योन्यं व्यंजयन्ती दृष्ट्वा तत्परिहरन्नाह नाहमिति, तु शब्दनैतच्चतुर्विधेभ्यो व्यतिरेकः प्रदश्यते । अहं तु चतुर्विधेषु तेषु रमणप्रतिकूलेषु मध्ये न कश्चन कित्वतीति कृपालुं न च नापीश्वरत्वं शङ्कनीयमित्याह । हे सख्य इति । समानशीलव्यसनेषु सख्यमित्युक्तत्वात् एकार्थाभिः बिवेशाच्चेति आत्मारामोऽप्यरीरमत् इत्यादिनाऽऽत्मारामऽता उपेक्षिता साक्षात

मन्मथमन्मथ इत्यनेन कामस्यापि मोहजनकत्वं दार्ढ्यं रमणार्थमेव । अन्यथा कामपारतन्त्र्ये चरमधातुपातेन विवशत्वोपपत्तेरिति । अत एवाकृतज्ञत्वं नास्ति । "ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहमि" त्युक्तेश्च सर्वज्ञत्वमुक्तम् । गुरुद्रोहोऽपि मयि न शङ्कनीय इति । बिरहे व्यभिचारिभावानां दुःखवत्प्रतीयमानत्वेपि न दुःखं परिणामे रसपोषकत्वात् । तदुक्तं "शृङ्गारो विप्रलम्भं हि न बिना पुष्टिमश्नुते" इति मयि कश्चन दोषो न शङ्कनीय इति भावः । तर्हि कथमन्तर्द्धानेन स्थितमिति चेत्तत्राह यमाश्रित्यैव रीतिस्तामाह अहं तु भजतोऽपि जन्तून् विशेषाभावः सूचितः प्राणिनो न भजामि । परोक्षं भजन्नपि तेषु कदाचित् अपरोक्षं भजनं न प्रकाशयामि । अन्ये तूपकारप्रत्युपकाररूपेणाऽन्योन्यं भजन्तो दृश्यन्ते । अहं तु तादृशो न भवामि किं तु विलक्षण इति तु शब्दस्यार्थः । ननु तर्हि किमित्येवं क्रियत इति चेत्तत्र हेतुमाह । अमीषामिति अमीषां भजतामनुवृत्तये निरन्तरध्यानार्थमेव मम तु सर्वसुहृदत्वात् अयं व्यवहारः । सर्वेष्वेकरूप एव दृष्टफलश्च केवलं युष्मास्वेवेत्यपि न शङ्कनीयमित्यर्थः । दृष्टप्रत्ययमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति यथाऽधन इति यथा पूर्वमेवाधनो निर्धनः पश्चाल्लब्धे धने बिनष्टे हारिते सति तच्चिन्तया निभृतः नितरां भृतः व्यापृतः निमग्नचित्तः सन् अन्यत् क्षुत्पिपासादिकमपि न वेद, इयं तु लोकप्रसिद्धिः । यथा नारदाय सकृद्दर्शयित्वा मया पुनरन्तर्हितं तदा तस्य निरन्तरमनुवृत्तिरेव जाता तथा भवतीनामपि ममान्तर्द्धाने तादृश्येवानुवृत्तीत्यर्थः ॥२० ॥

एवं मदर्थोज्झितलोकवेद-

स्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः ।

मया परोक्षं भजता तिरोहितं,

मासूयितुं मार्हथ तत् प्रियं प्रियाः ॥२१॥

एवं सर्वत्र स्वस्याभजने हेतुमुक्त्वा प्रस्तुते भजनविशेषमाह एवमिति, एवमनेन प्रकारेण, शुश्रूषन्त्यः पतीन्कांचिदित्यादिना मदर्थे मत्कामनयानया उज्झिताः लोका कर्मोपार्जिता स्वर्गादिब्रह्मलोकान्ता गृहीतचित्ताधर्मानादरात् बेदश्च बिधिनिषेधानादरात् स्वपतिपुत्रादयः स्नेहपरित्यागात् एते त्यक्ताः याभिस्तासां बो युष्माकमपि अनुवृत्तये निरन्तरध्यानार्थं परोक्षभजता । रात्रौ स्त्रियः कथं त्यक्तव्या इति मनसि निधाय निरन्तरध्यानार्थमपरोक्षं भजनं रात्रौ रक्षार्थं परोक्षं भजनं एतदुभयं कुर्वता तिरोहितं नेत्रागोचरेण स्थितम् । प्रत्यभिज्ञाबोधकमाह- कितब योषितः कस्त्यजेन्निशि इत्यादि प्रेमालापान् श्रण्वन् "अत्र प्रसूनावचयः प्रियार्थे प्रेयसा कृत" इति प्रत्यभिज्ञा दर्शयता अग्रतः पार्श्वतः पृष्ठतश्चादृश्येन भजता भवतीनां प्राणरक्षां कुर्वता तिरोहितम्, यद्वा अपरोक्षं भजता सर्वतो रात्रौ रक्षाकुर्वता तिरोहितम्, यद्वा परोक्षं भजता कण्टकशर्करादीनपसारयता तिरोहितम्, यद्वा परोक्षं भजता कण्टकशर्करादीनपसारयता मार्गसंस्कारं कुर्वता अतिरोहितं न तीर्यक्स्थितं किं तु अग्रतः एव स्थितम् । भजतो भजन्त्येक इति यत्पृष्टं तस्योत्तरं दत्तमिति भवतीनामपरोक्षं भजनं मम तु परोक्षं भजनमित्येतावान् भेदः । हे अबला इति सम्बोधनेनैतत् ज्ञाप्यते न ह्यन्येषामिव भवतीनां भजनं किंत्वलौकिकमेव सिध्यतीति । अनेनाभजनपक्षौ बल्लवीमनसि निरधारितोपि निरस्तः । अन्यथा मा असूयापि सम्भवेत् । तत् तस्मादकृतज्ञत्वादिदोषारोपणे मा असूयापि सम्भवेत् । तत् तस्मादकृतज्ञत्वादिदोषारोपणे

तम्। प्रत्युतं अकृतज्ञत्वगुणसम्भावनमुचितम्। अकृतमकृतिमं भावं जानातीति अकृतज्ञः तस्य भावो कृतज्ञत्वं स्वाभाविकमनोभावज्ञत्बमित्यर्थः। अन्यथा दोषस्फुर्त्तौ औदासीन्यसामानाधिकरण्यं स्यादिति। ननु परोक्षं भजने स्वभजनसादृश्यं न भवति दुःखहेतुत्वात्स्फूर्तेरिति चेत्तर्हि प्रियं मा मामसूयितुं मार्हथ सागस्यापि मयि दोषमुद्भावयितुं मार्हथ दोषमुद्भाव्य सदोषस्य मम भजने भवतीनामपि सदोषत्वं प्रसिद्धि भविष्यतीति। क्षन्तव्यमेवेति सानुनयोक्त्या वैषम्यमभिव्यञ्जितम्, प्रियं प्रिया इत्यनेन दोषमुद्भावयन्त्योऽपि भवन्त्यो मया त्यक्तुमशक्याः। तथा प्रिये त्यक्तुमशक्ये मयि तया कर्तुमशक्ये मयि तया कर्त्तुं प्रियाणामसाम्प्रतमिति भावः ॥२१॥

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां—
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना ॥२२॥

इति श्रीमद्भागवते रासपञ्चाध्यायीक्रीडावर्णने गोपीसान्त्वनो नाम द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥३२॥

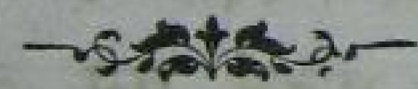

एवं तासाममर्षमार्जनं कृत्वा भजमानस्य स्वस्यानृण्याय स्फुटयितुं ताः परिसान्त्वयति "न पारयेऽहमिति" निरवद्यसंयुजां निरवद्या संयुक् संयोगे यासां लोकप्रतीत्या काममयत्वेन प्रतीयमानोऽपि विषयमहिम्ना निःकामे पर्यवसाय्येवेत्यर्थः। तदुक्तं श्रीमुखेनैव "न मय्यावेषितधियां कामः कामाय कल्पते" इति तादृशकामसम्बन्धस्य संसारहेतुत्वं प्रत्युपकारं कर्त्तुमित्यध्याहारः। न पारयेऽहं न शक्नोमि विबुधायुषाऽपि ब्रह्मण आयुषापि, यद्वा वो युष्माकं कृत्यं भजनं प्रतिस्वं स्वकीयं साधु समीचीनं कर्त्तुं न पारयेऽहं, यद्वा बो युष्माकं स्वमसाधारणं साधु कृत्यं निष्कपटं भजनं बक्तुमित्यध्याहारः न पारयेन कोऽपि-समर्थः। भवतीनां मम चोभयोर्वैशादृश्यादित्यर्थः। न हि वास्तवजलतृप्ते कदाचित् मरीचिजलतृप्तिः सदृशी भवितुमर्हतीति। तत्र हेतुमाह--या भवत्यः दुर्जरा अजया अछेद्या इत्यर्थः, गेहशब्देन समष्टिरूपा पतिपुत्रादिषु स्नेहरूपा सर्वे गृहोचितव्यापाररूपा वा मुनीनामपि च्छेत्तुमशक्याः अग्रे एताः एव स्पष्टी करिष्यन्ति। "स्नेहानुबन्धो बन्धूनां मुनेरपि सुदुस्त्यज" इति। बहिः लोहमय्यः शृङ्खलाः च्छेत्तुमपि शक्याः, अन्तस्थिताः सुस्नेहमय्यः शृङ्खलाः केनापि न छिद्यन्ते। मम तु स्वकीये स्नेहानुबन्धस्य त्यक्तुमशक्यत्वात्। अतः एव भवतीनां मम च तुल्यत्वाभावः। एतादृशी शृङ्खला बन्धनहेतुन् संवृश्च्य सम्यक् छित्वा अप्रत्यापत्तिरूपेण त्यक्त्वेत्यर्थः या माभजन्निति। यथा भवतीनां मदेकनिष्ठत्वेन भजनं तथा युष्मदेकनिष्ठत्वेन मम भजनाभावान्न साम्यम्, बहुप्रेम्नो बिभक्तत्वान्नैकनिष्ठत्वमितिभावः। तद्भजनं बो युष्माकं साधुना भावप्रधानो निर्देशः साधुत्वेन प्रतियातु प्रत्युपकृतं भवतु। सर्वनैरपेक्षेण युष्मद्भजनाशक्तेः "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तां तथैव भजाम्यहमिति" स्वप्रतिज्ञाहानिप्रसक्तैरपि अतो ममानृण्याभावो निर्णीतः। इतः परं भवतीनां स्वाधीनपतिकात्वे जाते यथा रुचिमाज्ञापयन्त्विति भावः। "स्वमुखेन बिशिष्टोक्त्या गोपीनां प्रेमयन्त्रितः। ऋणित्वमङ्गीकृतवान् स कृष्णः प्रेमदोऽस्तु मे" ॥२२॥

इति श्रीमन्नारदाबतारश्रीनारायणभट्टविरचितायां रसिकाह्ला-

दिन्यां रासपञ्चाध्यायीटीकायां गोपीसान्त्वनो नाम द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥३२॥

श्रीशुक उवाच—

इत्थं भगवतो गोप्यः श्रुत्वा वाचः सुपेशलाः ।
जहुर्विरहजं तापं तदङ्गोपचिताशिषः ॥१॥

"रासोपदेशतः कृष्णः स्वमाधुर्यप्रकाशनैः । रसज्ञानन्दयन् जीयात् गोपीमण्डलमध्यगः" । इत्थं स्वस्य न्यूनतया ऋणित्वप्रकाशनेन च गोपीनामुत्कर्षवर्णनेन सुपेशलाः मनोरञ्जनकरी भगवतो रसैश्वर्यपूर्णस्य वाचः श्रुत्वा दत्तावधानत्वेनाकर्ण्य गोप्यः श्रीकृष्णोक्तिश्रवणजसुखं गोपायन्त्य विरहजं भूत-भव्यं विरहजं तापं जहुस्तद्वाक्यविश्वासादिति । कीदृश्यः तस्य भगवतोऽङ्गैः करचरणाद्यवयवैः आलिङ्गनादिषु स्पृष्टै उपचिताशिषः उत्तरोत्तरवर्द्धितमनोरथाः । यथा स्वप्नेऽनुभूतं दुःखं उत्थाने स्वत एव विनश्यति तद्वदिति ॥१॥

तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतैः ।
स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः ॥२॥

इदानीं प्रस्तुतं रासक्रीडाविनोदं प्रकाशयन् स्वप्रतिश्रुतमर्थं साधयति तत्रेति, यत्रोपविष्टः सान्त्वनमकरोत्तत्र पुलिने गोविन्दो गोकुलेन्द्रत्वं प्रकटयन् रासक्रीडामारभत प्रारब्धवान् । रासो नाम बहुनर्तकीनृत्यविशेषः । रसस्याभिव्यक्तिर्यस्मादिति वा सः रसोत्पत्त्यर्थमेव नृत्यं रसस्तु मानसो धर्म, शरीरचेष्टा मनस्याविर्भवति । नृत्यस्य शरीरकृतसाध्यत्वं नृत्यस्याविर्भवकत्वं नित्यसिद्धस्य मानसभावरूपरसस्याविर्भाव्यत्वम् । इक्षुकाण्डे पूर्वसिद्धो रसः पीडनादाविर्भवति । तथा नृत्यगीतादिना मधुररसस्याविर्भावः । अनेन रसस्यानादित्वं नित्यत्वं च सूचितम् । रससाधकत्वमाह स्त्रीरत्नैरन्वित उत्तमस्त्रीकदम्बैरिति स्वाभाविककामकलाकौशलं सूचितम् । अन्वित इति रसविशेषोत्पत्तिश्च सूचिता । हरिद्राचूर्णसंयोगवत् सहाल्ये साम्यं सूचितम् । यदि तासु स्वाभाविककलाकौशलं न स्यात् तदा भगवत ऐश्वर्यान्निरोधो न स्यात् इति किं च भगवतोऽपि रसोत्पत्तावशक्यत्वं स्यात् । न हि सिकतासमूहे तैलमुत्पद्यतेऽपितु तिलेभ्य एवेति । अयमलौकिको रसोऽलौकिकेस्वेवोत्पद्यते । एतास्तु त्रिलोकीमध्यजातस्त्रीभ्यो विलक्षणा विधातृसृज्यत्वाभावात् । अतः एवैतासां मधुररसाविर्भावत्वयोग्यता सूचिता । गोविन्द इति नायकशिरोमणित्वं सूचितम् । एकजातीयविलक्षणरमोत्पादकत्वेन सामर्थ्यद्योतनार्थमन्वितत्वं न हि विजातीयाद्रसोत्पत्तिरिति कुत्रापि दृष्टं श्रुतं चेति, अत एव तदालिङ्गनचुम्बनादिना प्रीतैरिति रसाधिकृतत्वं सूचितम् । प्रभुसंमानितानामधिकृतनां कार्य्यसंसाधकत्वं भवतीति प्रसिद्धेः । तासां रासक्रीडायाभिनिवेशमाह तावद् आदौ अन्योन्याबद्धबाहुभिः । अन्योन्याश्रासमन्तात् बद्धा बाहवो याभिःश्रीकृष्णस्य मध्यनायकवन्मध्येऽवस्थितित्वादिति ॥२॥

रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः ।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः ॥३॥

एवं स्वयमाचितायां रासक्रीडायामभिनिवेशमाह अक्षरचतुष्टयाधिकेन सार्द्ध श्लोकेनेति । रासः रसाविर्भावको नृत्य एवोत्सवविशेषः सम्यक् प्रवृत्तः । तत्र हेतुमाह श्रीकृष्णेन मूर्त्तिमता शृङ्गारेणेत्यर्थः । सम्यक्त्वं विशदयति गोपीमण्डलमण्डितः गोपीमण्डलेन मण्डिताऽलङ्कृतः, यद्वा गोपीमण्डलं मण्डितं येनेति । तेन सदानन्दरूपेण तासां मण्डलाकारेण स्थितानां

उभयतः कण्ठे गृहीतानां द्वयोर्द्वयोरिति । कृष्णोभयतः पार्श्व-
द्वये स्थितत्वेन गृहीतकण्ठत्वमुच्यते—तदुक्तं क्रमदीपिकायां-
"सुदृशामुभयोः पृथगन्तरगमिति" । तदुक्तं पाराशरेणापि "रास-
मण्डलिबन्धो हि कृष्णपार्श्वमनुज्झता । गोपीजनेन नैवाभूदे-
कस्थानस्थिरात्मना । हस्ते प्रगृह्य चैकैकां गोपिकां रासमण्डलीम् ।
चकार तत्करस्पर्शनिमीलितदृशां हरिः । ततः प्रववृते रासश्चलद्व-
लयनिःस्वनः । अनुजातशरत्काव्यगोपिगीतिरनुक्रमात्" । ननु
द्वयोर्द्वयोः मध्ये प्रविष्टेन उभयतः कण्ठालिङ्गितत्वेन च स्वरूपबहु-
त्वं प्रतीयते इति चेत्तत्राह यं मन्येरन्निति लिङ्गेन गोपी-
दृष्ट्यभिप्रायेण स्वरूपबहुत्वमिव प्रतीयत इति एतदभिप्रायेण
गोपीमण्डलमध्ये शङ्कुस्थानीयः एक एव बोद्धव्यः । अन्यथा
स्वरूपबहुत्वे यं स्वनिकटं मन्येरन्निति स्वैकनिकटत्वभानकथनं
न स्यादिति ! स्वरूपाणां बहुत्वेन मायिकत्वे तासां निष्कपट-
भजने न वै सादृस्यादिति । सुखभङ्गपर्य्यवसायि—रसाभासश्च
भवेदिति । अत एव आचार्य्यैः व्याकरिष्यते "मध्ये मणीना-
मिति । यथा मध्ये ऽनावृत्तिरेकवचनं च गोपीदृष्ट्यभिप्रा-
येणेति" । नन्वेकस्य कथं द्वयोर्द्वयोर्मध्ये प्रवेशो युगपत्कण्ठग्रहणं
पार्श्वद्वयेऽपि एकत्वभावः । स्वसन्मुखास्थितानां पार्श्वद्वयस्थि-
तेन कृष्णेन गृहीतकण्ठानां दर्शनेन कथं नेर्ष्यादयस्तत्राह योगे-
श्वरेणेति । अचिन्त्याद्भुतशक्तिविशेषो योगस्तस्येश्वरेण नियंत्रा
सर्वसन्निहितत्वं कर्त्तुं समर्थेनेति । अग्रे वक्ष्यति "चित्रं बतैतदेकेन
बपुषा युगपत् पृथक् । गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदा-
बहत्" यथा तत्रैकस्यैव बपुषोऽचिन्त्यशक्तित्वं सर्वत्र पूर्णत्वं
नारदेन प्रत्यक्षतो दृष्टम् तथा तत्रापि स्वरूपैक्यं सर्वसन्नि-
हितत्वं च न चित्रं न हि भगवच्छक्तियोगमायाया अयमति-
भार इति । योगमायामुपाश्रित इत्युक्तमेव, अन्यथा तासामेक-

स्वरूपभजने निष्कपटे प्रेम्णि च सकपटबहुरूपप्रदर्शनं न न्या-
य्यमिति भावः । अत एवोक्तम् ॥३॥

य मन्येरन् नभस्तावद् बिमानशतसङ्कुलम् ।
दिवौकसां सदाराणामौत्सुक्यापहृतात्मनाम् ॥४॥

यं मन्येरन्निति उक्तं च "जगद्धनमयं लुब्धाः कामुकाः कामि-
नीमयम् । नारायणमयं धीराः पश्यन्ति परमार्थिनः" इति वत् ।
स्वनिकटमाने न चित्रं, किं च यथा "मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्
स्वान् स्वान् दारान् ब्रजौकस" इति । अत्र भगवतोऽचिन्त्य-
शक्तेरेब हेतुत्वं किमुत तासां स्वैकनिकटत्वमाने इति । बपु-
षोऽद्भुतापरिछिन्नत्वे योगेश्वरेणेति हेतुः । अन्येऽपि योगिनो भग-
वत्प्रसादोचितसामर्थ्याः सर्वसन्निहिताः भवन्ति किमुत भगवा-
न्निति योगेश्वरे इति । रासोत्सवप्रवृत्तो दिवौकसां बिमानशत-
संकुलनभ आसीत् इति सम्बन्धः । दिवौकसां अधिकारिणा-
मित्यर्थः । अन्येषां तत्राप्रवेशात् सदाराणां स्त्रीणामपि दिदृ-
क्षासंभवात् । अत एवौत्सुक्येन कौतुकेनापहृतात्मनां आकृष्ट-
चित्तानां च स्थितिरुद्दीपकत्वेनोक्तमिति । रासोत्सवं प्रतीक्ष्यमा-
णानां तेषां बिमानशतैः शतशब्दस्त्वसंख्यातबाची असंख्या-
तैरित्यर्थः, तैः सङ्कुलं नभ आसीदिति ॥४॥

ततो दुन्दुभयो नेदुर्निपेतुः पुष्पबृष्टयः ।
जगुर्गन्धर्वपतयः सस्त्रीकास्तद्यशोऽमलम् ॥५॥

तन्मध्ये पुष्पवृष्टीगीतबाद्याधिकारिणां प्रमत्ततामाह । ततो
रासप्रारम्भे जगन्मङ्गलसूचकाः दुन्दुभयो नेदुः, नृत्योत्साहो-
दीपकादिवैश्वर्यादिमहानादं चक्रुरिति । अधिकारिभिरौचिताः
पुष्पबृष्टयो निपेतुः, तालगतिसमाप्तिसमकालमेव नितरां नैर-
न्तर्य्येण पेतुः, गन्धर्वपतयो गन्धर्वमुख्या अधिकारिणः तद्यशो

अनेन श्रीकृष्णगाने गन्धर्वगानस्य जगुः, सखीसहायाः, साहित्यं सहायित्वमुद्दीपकत्वं च सूचितं गोपीगाने तत् स्त्रीणां साहित्यं साहायित्वमुद्दीपकत्वं च सूचितम् । तद्यशो गानस्य साहित्यं तासां तस्य च यशः कीदृशं अमलं कामादिवासनानिरसन-समर्थं अत एव रासोत्सवादिदर्शनेन बिषयबासनानिरासोऽपि सूचितः । तत्तादृशनं न दोषायेति भावः । किं च तत्कालोप-योगिसजातीयपदार्थपूर्वप्रवेशस्य रसोद्दीपकत्वं न बिजातीय-प्रवेशस्येति ध्वनितम् ॥५॥

वलयानां नूपुराणां किङ्किणीनां च योषिताम् ।
स प्रियाणाममूच्छब्दस्तुमुलो रासमण्डले ॥६॥

एवं आकाशस्थगन्धर्वादिकृतवाद्यादिकमुक्त्वा गोपीमण्डल-मध्य एवान्तरङ्गानि रसोपयोगीबिचित्रवादित्राण्याह बलयाना-मिति । योषितां गोपीनां बलयानां शब्दोऽभूत् । अनेन हस्ता-भिनयादिगतभेदस्य बलयशब्दोत्पात्ताजनकत्वं सूचितम् । नूपुरा-णामिति पादन्यासगतिभेदस्य नूपुरध्वन्युत्पादकत्वं सूचितम् । किङ्किणीनामिति कटिचालनभेदस्य किङ्किणीध्वन्युत्पादकत्वं सूचि-तम । अग्रे बक्ष्यति च "पादन्यासैर्भुजबिधुतिभि"रिति । एव मूर्द्ध्वाधो मध्यभागेषु अन्तरङ्गवादित्रशब्दस्य रसबिशेषोद्दीप-कत्वं सूचितं इति । स प्रियाणामिति प्रियस्योपसर्जनत्वं बलयादिवाद्येषु तासामेव प्राधान्यात । रासमण्डल इति-रसस्याभिव्यक्तिर्यस्मादिति रास एतादृशे मण्डले गोपीमण्डले, यद्वा रसस्योदयो यस्मान्नृत्यबिशेषात् स रासस्तस्य मण्डले मण्डलाकारेण बन्धेन, यद्वा रसानां समूहो रासस्तस्य मण्डले प्रदेश इति । तुमुलरसङ्कीर्ण अत एव कुंचिताक्षशब्दानां नृत्यो-पयोगित्वं तथा बद्यादि शब्दानां तत्र लयात् पृथक्त्वेनानुपल-

क्षत्वं यथा दूरस्थानामन्येषां मतान्तरभेदग्रहणं न भवति तथा तुमुलो बभूवेति ॥६॥

तत्राति-शुशुभे ताभिर्भगवान् देवकी-सुतः ।
मध्ये मणीनां हैमानां महामरकतो यथा ॥७॥

नन्वेवं नृत्यमानासु तासु मध्ये चेत् कृष्णस्योपसर्जनं तर्हि शोभा न्यूनत्वं स्यादिति आशंक्य पूर्वशोभाधिक्यमाह तत्रेति, भगवानपि स्वैश्वर्य्यमवगणय्य तत्र रासमण्डले ताभिर्यासां श्रेणीबास्ते सुवर्णबर्णाभिरित्यधिकं शुशुभे । तासां संसर्गेण शोभादर्शनजं सुखं स्वयमनुभूतवान् । आत्मने पदेन सूचितं ऐश्वर्यशोभात आधिक्यं न बिबक्षितं किं तु प्रथमं बाहु-प्रसारेत्यादिना वन - विहारशोभाभराधिक्यं सूचितम् । सजातीयादेबाधिक्यं सम्भवति न बिजातीयादिति नियमः । यद्वा भगवान् भगो भाग्यं तद्वान्, हेतुगर्भबिशेषणमाह देब-कीसुतः "द्वे नाम्नी नन्दभार्याया यशोदा देवकीत्यपि । अतः सख्यमभूत्तस्या बसुदेवस्य भार्ययेति" । यशोदासुत इत्यर्थः अतो बात्सल्येन लाल्यमानस्य तस्यातीव पुष्टत्वात् बह्वीषु रस-सञ्चारणसामर्थ्यं द्योतितम् । यद्वा बिशेषणद्वयेन धीरलालित्य-धर्मभाकगुणयुक्तत्वं सूच्यते तदुक्तं रसार्णवे "पितृभ्यां गमितो-ऽत्यन्तं नैश्चिन्त्यं प्रेयशीबशः । विदग्धो नवतारुण्यो धीरला-लित्यधर्मभाक्" । नैश्चिन्त्येन हेतुना बिलासभरः सूचितः । तत्रा-तुरूपं दृष्टान्तमाह-मध्ये मणीनामिति । हेमनिर्मितानामङ्गु-ल्याकाराणां मणीनां मध्ये महामारकतो मध्ये नायक इव तादृशोऽपि उभयतः कण्ठालिङ्गिताभिरिति । भूषणभूषितानां तासां सम्पन्नमन्तरेण शोभाभरासम्पादनादिति । केवलो मध्य-नायक सुवर्णमणि व्यतिरेकेण - शोभते तद्वत् । एकबचनेन स्वरूपैक्यं भगवतः अचिन्त्यशक्तेरिति सर्वसंन्निहितत्वं, मध्य

इति पदेन मण्डलमध्यस्थोऽप्येक एक । यथा महामारकतस्य च्छटाः सुबर्णमणिषु मध्ये प्रविशन्ति अद्भुतचमत्कारित्वेन शोभां विशेषयन्ति तद्वदुन्नेयम् । आचार्य्यैरपि व्याकृतं गोपीद्वष्ट्यभिप्रायेण स्वैकनिकटत्वमानं मध्य – पदानावृत्तिरेकवचनं च तथा चोक्तं क्रमदीपिकायां – मणिनिर्मितमध्यगशङ्कुलसद्विपुलारुणपङ्कजमध्यगतमि"त्युपक्रम्य "तरुणीकुचयुक्परिरम्भमिलत्घुसृणारुणबक्षसमुद्धगतिमिति" । बिल्वमङ्गलोक्तिस्तु "अंगनामंगनामन्तरं माधवो माधवं माधवं चान्तरेणाङ्गना । इत्थमाकल्पिते मण्डले मध्यगः संजगौ वेणुना देवकीनन्दन" इति । गोपीद्वष्ट्यभिप्रायेण स्वर्भानिहतत्वम । क्रमदीपिकोक्तपङ्कजमध्यगतमितिवत् । मण्डलमध्यस्थितिरेकेन स्वरूपेणेति । यथाकाशस्थितस्य चन्द्रस्य भुवि युगपत्सर्वलोचनगोचरत्वमिति तथा मनः समाधीयतामिति, न च भगवता प्रवेश इति किंतु योगमायया एव सम्भवात् अन्यथा रसाभासप्रसङ्गात् । ऐश्वर्यस्य तु पूर्वमेबोपेक्षितत्वात् कि च यथा प्राप्तिलक्षणया सिद्ध्या योगिनां सर्वत्र प्रचारः सर्वसन्निहतत्वम् । किंच न मिथ्या तथात्रापि मन्तव्यं योगेश्वरेणेत्युक्तत्वात् "तर्काप्रतिष्ठानादिति" व्याससूत्रम् कि च "अतर्क्याः खलु ये भावाः न तांस्तर्केण योजयेत्" इति धर्मेण त्वतर्क्यपरिछिन्नत्वं धर्माणामपरिछिन्नत्वमिति न किंचिदसमञ्जसमिति ॥७॥

पादान्यासै र्भुजविधुतिभिः सस्मितैर्भ्रू बिलासै-
र्भज्यन्मध्यैश्चलकुचपटैः कुण्डलैर्गण्डलोलैः ।
स्विद्यन्मुख्यः कवररशनाग्रन्थयः कृष्णवध्वो
गायन्त्यस्तं तडित इव ता मेघचक्रे विरेजुः ॥८॥

एवं रसाधिकरणत्वेन तासामुत्कर्षं निरूप्य तस्याप्युत्कर्षं

निरूपयन्ति तथोक्तं–"शृङ्गारे नायिका श्रेष्ठा रसाधिकरणं यतः । माधवत्वेन सौन्दर्यवारिधि स परिच्छद" इति । इदानीं न केवलं ताभिः स शुशुभे किंतु ताऽपि तेन बिरेजुरित्याह पादन्यासैरिति, पादानां चरणानां न्यासाः नृत्यगतिभेदास्तै र्भुजानां बिधुतयः सर्वे हस्तकाभेदास्तैः । नन्वन्योन्या बद्धबाहुभिरित्युक्तेः हस्तकादिभेदः कथं सम्भवेत् । तत्र समाधानं तत्स्थानापरित्यागेनैव हस्तकभेदसम्पत्तेरिति भावः । यद्वा अन्योन्या बद्धबाह्वानामेव नृत्यबिशेषगतिभेदादेव बिधुतयः कम्पायमानाः बोधव्या इति, सस्मितैः स्मितसहितैः भ्रुवां बिलासैः नृत्यगतिव्यञ्जकैरुद्ध्वाधोभागतिर्य्यक् प्रसरणरूपैः कृष्णमनोरञ्जकैर्भज्यद्भिः पादन्याससाहचर्यात् भङ्गमिव प्राप्नुवद्भिः नृत्यगतिवशात्कार्श्याच्च भङ्गस्योत्प्रेक्षेति । चलैः कुचैः पटैश्च चलेषु बा पटास्तैः । अनेन सर्बाबयबानां रसाभिव्यञ्जकं सकंपत्वमुक्तम् । कुण्डलैर्गण्डेषु लोलैः अनेन सर्वा एब शिरोभेदा उक्ताः । स्विद्यन्मुख्यः स्विद्यन्ति मुखानि यासां ताः, अनेन रत्याख्यभाबस्य सर्बाङ्गपूर्त्या स्वेदरूपेण बहिर्गमनमुक्तमिति । कवरेषु रसनासु च पूर्वदृढग्रन्थयो इदानीमग्रन्थयः सर्बाबयबव्याप्तेन रसेन शरीरसैथिल्यात् केशपासे रसनायां शैथिल्यं जातमितिभावः । कृष्ण–बध्व इत्यनेन तत्साहचर्यात् नृत्यगानांगिकभावोत्पत्तिभरः सूचितस्तमेव गायन्त्यः मानसभावोच्छलेन गाने रसोद्रेकः सूचितः । स्वकलाकौशलेन स्ववैदग्धाभिव्यञ्जकैः नृत्यगानादिभिः बिशेषेण रेजुः । तत्र दृष्टान्तमाह मेघचक्रे तडित इव अलातचक्रबद्भ्राम्यन् कृष्णो मेघचक्रमिव लक्षितस्तास्तु बहुधा द्योदमाना तडित इव । तडितो हि बहुकालं दर्शनार्हा न भवन्ति, एता अपि नृत्यगतिबिशेषवशादचिरप्रभा इव लक्षिताः । तडितो हि अचिरदर्शना अपि मेघचक्रं शोभयन्ति, मेघचक्रेणापि तासां शोभा भवत्येव । एवं लाघब-

शक्त्या सर्वसन्निहितत्वेन परित आच्छादिता अपि केनचित्का-न्तिविशेषेण मध्ये मध्ये दर्शनगोचरा भवन्ति । एवमन्योन्यं शोभाभरः मध्ये सूचितः । चक्र इति नृत्यगतिभेदबन्धेन निजलाघवशक्त्या च नानत्वमिव प्रतीतमति रासक्रीडायां शोभा - वैशिष्ट्यं सूचितम् ॥८॥

उच्चैर्जगुर्नृत्यमाना रक्तकण्ठ्यो रति–प्रियाः ।
कृष्णाभिमर्शमुदिता यद्गीतेनेदमावृतम् ॥ ९ ॥

एवं केवलं नृत्यसम्भ्रममुक्त्वा नृत्यकर्तुरितगानमाह उच्चै-रिति नृत्यमाना नृत्यन्तः, यद्वा नृत्ये मानोऽभि मानो यासां ताः तासां नृत्यस्य सर्वोत्कृष्टत्वात् उच्चैः जगुः । ननु नृत्यसम्भ्रमे गानासम्भवमाशंक्योच्चैर्गाने हेतुमाह - कृष्णाभिमर्शमुदिता इति कृष्णस्य परमानन्दरूपस्याभिमर्शनं करेण प्रोंछनादिरूपो-ऽभिमर्शः स्पर्शस्तेन मुदिता इत्ययमेव मुख्यो हेतुः । अनेन श्रमापनयनमप्युक्तम् । उच्चैरिति उभयत्रापि सम्बध्यते । एवं नृत्यगानस्य हि वैदग्ध्यविशेषप्रकटनमुक्तम् , यद्वा नृत्यमाना श्री-कृष्णनृत्यादाधिक्येन गर्वो यासां ताः उच्चैरिति पदस्य सापे-क्षत्वं पूर्वगानतोप्याधिक्यम् । अथवा श्रीकृष्णस्य गानादाधिक्य-बिवक्षयोच्चैस्त्वमिति । गानस्य वैशिष्ट्ये हेतुमाह रक्तकण्ठ्यः, नानारागैरनुरंजितकण्ठ्यः, अनेन श्रीकृष्णस्य मनोऽनुरंजकत्वं सूचितम् । तत्रापि हेतुमाह रतिप्रियाः रतिः श्रीकृष्णप्रीतिः सैव प्रिया परमादरेण सेव्या यासां ताः, अत एव तत प्रीत्यु-द्देशेन गानमिति सूचितम् । यदा रतस्योच्चैस्त्वाऽधिमाह श्री-कृष्णस्यापि स्तम्भेन तासामुच्चैर्गीति सामर्थ्यादिति यद्गीतेनेति यासां गीतेनेदं बिश्वमावृतमासीत् अयमभिप्रायः । कृष्णाभिम-र्शमुदिता इत्यत्र श्रीकृष्णेन कुचादिगात्रस्पर्शादिना तासु स्वान-

न्दस्थापिते सति, अतः पूर्णानन्दत्वं सूचितमिति । अत एव रमणावछिन्नकाले सर्वेषां जीवानां सुखपूर्णत्वं जातमिति भावः॥९॥

काचित्समं मुकुन्देन स्वरजातीरमिश्रिताः ।
उन्निन्ये पूजिता तेन प्रीयता साधु साध्विति ।
तदेव ध्रुवमुन्निन्ये तस्यै मानं च बह्वदात् ॥ १० ॥

इदानीं यूथमुख्यानां कासांचित् पृथक् पृथक् चेष्टितानि तत् मध्ये कासांचित् कृष्णचेष्टितमिश्राण्याह काचिदिति । काचिद् यूथमुख्या मुकन्देन समं मुकन्दस्योपसर्जनत्वात् स्वानन्दपूर्णा समर्थेन स्वरजातीः षडजादि-स्वरालापभेदान् अमिश्रिता कृष्णो-द्गीताभिरसङ्कीर्णा, यद्वा असङ्कीर्णा अश्रुतपूर्वा स्वरजातीना-मुन्नयनन्तु समकालमेब नादारम्भे पृथक् पृथक् उपलब्धः अत एव मुकुन्देन सममुन्निन्ये स्वरावसानमर्पितवती, यद्वा मुकुन्देना-मिश्रतानैकत्वं नीत्वा तस्याप्यशक्यत्वात् । स्वरजाती रागस्वर-भेदान् सममेकदैवोन्निन्ये । तत्स्वराणामवसानं युगपद् नीत-वती । अत एव साधु साध्विति तेन पूजिता । तज्जात्युन्नयनं तदु-पदेशेन स्वयमपि चिकीर्षमाणेन प्रीयता तदुन्नयने प्रीतिमावि-ष्कुर्वता । अनेन गाने वैदग्धीविशेषप्राकट्यं दर्शितम । इदानीं श्रीकृष्णसम्माननेन ततोऽप्याधिक्येन गाने तत्कौशलमाह तदे-वेति, तदेव तज्जात्युन्नयनमेव ध्रुवं निश्चलं यथा भवति तथा उन्निन्ये तं नादं ध्रुवनादेनैक्यं निनाय । यद्वा येन ध्रुवतालेन समतालेन ध्रुवाख्येन तालेन तदुन्नयनं ततोपि स्वोत्प्रेक्षितं नादान्तमनयत् । तन्नादे श्रीकृष्णमनसो निरुद्धत्वात् सात्विक-भावोदयेन च बहु मानं सम्माननं पूजनमित्यर्थः अदात् प्रश-शंसेत्यर्थः । यद्वा कण्ठादुत्तार्य्य महाधनं हारं प्रसादत्वेन दत्तवा-निति भावः ॥ १० ॥

काचिद् रासपरिश्रांता पार्श्वस्थस्य गदाभृतः ।
जग्राह बाहुना स्कन्धं श्लथद्वलयमल्लिका ॥११॥

एवं कासांचिद्गुणोत्कर्षमुक्त्वा कासांचित् पूर्वमेव चिन्तितं आलिङ्गनादिसुखं वर्णयति काचिदिति, यूथमुख्या सौभाग्यभरगर्विता स्वस्यैकस्मिन् पार्श्वे स्थितस्य विद्यमानस्यैव लाघवशक्तिमत्वात्। श्रीकृष्णस्य स्कन्धं स्वबाहुना जग्राह । श्रीकृष्णांसे स्वबाहुं स्थापितवतीत्यर्थः । कीदृशस्य गदाभृत इति सामर्थ्यद्योतिका श्रीशुकोक्तिः, यद्वा गदं कामतापरूपरोगं न विभर्त्ति न पुष्णाति इति गदाभृतः तस्य कामतापनिवर्त्तकस्येत्यर्थः । स्कन्धग्रहणे हेतुमाह रासपरिश्रान्ता नृत्यसम्भ्रमेण रसावेशात् श्रमः अतःश्रमापनयनद्वारा स्खलनशङ्कया स्कंधग्रहणमिति, अनेन स्वाधीनपतिकात्वं सूचितम्। परिश्रमलिङ्गमाह-श्लथदिति शिथिलीभवन्तो वलयाः श्लथन्त्यो मल्लिकाश्च कबरात् यस्या सा, यद्वा श्लथन्ती पुष्पनिर्म्मितवलयेभ्यो मल्लिका यस्या सा, यद्वा श्लथन्ती वलयाकारा कबरान्मल्लिका यस्याः सा, अन्यथा मण्डलपरित्यागेन श्रमापनयने क्रियमाणे रासो भज्येत् रसवृद्धिरपि न भवेदिति । अत एव मण्डलमपरित्यजता कृष्णेनापि स्वस्कन्धार्पणं सम्भाव्यतेति । तदुक्तं पराशरेण"परिकर्तश्रमेणैका चलद्वलयलापिनीम् । ददौ बाहुलतां स्कन्धे गोपी मधुविघातिन" इति ॥ ११ ॥

तत्रैकांसगतं बाहुं कृष्णस्योत्पलसौरभम् ।
चन्दनालिप्तमाघ्राय हृष्टरोमा चुचुम्ब ह ॥१२॥

कस्याश्चित् पूर्णमनोरथोपगतं चेष्टितं वक्तुं तस्या एव यूथमुख्याया विलासविशेषमाह तत्रेति – तत्र रासमण्डले एका काचिद् गोपी कृष्णस्य बाहुं स्वस्यांसगतं तेन करालिंगितत्वात् । उत्पलतो नीलोत्पलादपि सौरभं यस्मिन् स्वाभाविकं सौरभमित्यर्थः । विशेषतश्चन्दनालिप्तं चन्दनेनासमन्तात् भक्तिच्छेदेनालिप्तं अनेन कामतापनिर्वापकत्वमुक्तम् । आघ्राय भावविशेषेण घ्राणं । अतः एकान्तप्रविष्टपरिमला आनन्दपूर्णा सती बाहुमेव चुचुम्ब ह । इति हर्षे प्रसिद्धौ वा पूर्णानन्दत्वे लक्षणमाह-हृष्टरोमेति स्पर्शसुखं पूर्वश्लोक एव विवृतं अस्मिन्पद्ये गन्धसुखमनुभूतं चुचुम्ब इति फूत्कारेण कामाग्निसन्धुक्षणमिव विडम्बयन्ती चुम्बनमकरोदिति तात्पर्यार्थः । उत्पलसौरभमिति विशेषेण स्वाभाविकं सौरभं चन्दनालिप्तमिति विशेषेण कर्बुरितम् । अनयोः विवेचनायाघ्राणतात्पर्य्यं, अलौकिकभावयुक्तानां परमविदग्धानां स्वेतद्विवेचनं नान्यासामिति सूचितम् । आघ्राणं विवेकधैर्य्यनाशाय चुम्बनं वाप्यायनायालमिति ॥ १२ ॥

कस्याश्चिन्नाट्यविक्षिप्तकुण्डलत्विषमण्डितम् ।
गण्डं गण्डे सन्दधत्या अदात्ताम्बूलचर्वितम् ॥१३॥

इदानीं कस्याश्चिद् यूथमुख्याया रासविलासक्षुभ्यच्चित्ताया वैवश्यं दृष्ट्वा ताम्बूलचर्वितदानेन रसं विवर्द्धयिषतः कृष्णस्य विलासपूर्वकं चेष्टितमाह कस्याश्चिदिति, काचिदंजलिना गृन्हान्वी ताम्बूलचर्वितमित्यत्र पूर्वमास्वादिते ताम्बूलचर्विते साभिलाषाया इति । कस्याश्चिदिति । अत्र चतुर्थ्यर्थे षष्ठी कस्मैचिदित्यर्थः । श्रीकृष्णस्य ताम्बूलं चर्वितं प्रशब्देन लाघवं विवक्षितं अदात् प्रददौ स्वगण्डं स्वकपोलं श्रीकृष्णगण्डे सन्दधत्याः संयोजयन्त्याः अनेन ताम्बूलचर्वितं सापेक्षत्वं ग्रहणे लाघवं च सूचितम् । गण्डयोः संयोजनग्रहणदाने च चातुरीविशेषमाह सम्मुखत्वाभावेऽपि लाघवे च स्वमुखं सम्मुखीकुर्वन् ददाविति । कीदृशं गण्डं नृत्येन विक्षिप्तस्य चंचलस्य त्विषेन त्विषा मण्डितम् । अनेन शिरश्चालनं भेदप्रदर्शनमुक्तमिति ।

रसावेशेन नृत्यसम्भ्रमस्यापि च्युतिरुक्ता, यद्वा स्वगण्डे श्रीकृष्णगण्डं सन्दधत्या स्वप्रयत्नेन संयोजयन्त्याः स्वगण्डोपरि कृष्णगण्डं स्थापयन्त्यास्ताम्बूलचर्बितं तस्य आप्यायनकरं प्रादात्। अनेन स्वानुरागस्य सिद्धवत् कृतत्वोक्तस्य ताम्बूलचर्बितरूपकेण दानमुक्तम् । सिद्धस्य दाने साधनप्रयासाभावोपि सूचितः । कीदृशं कृष्णगण्डं नाट्येन नृत्येन विक्षिप्तं चंचलं यत्कुण्डलं तस्य त्विषेन त्विषा मण्डितम् । अनेन ग्रहणे तस्याः लाघवशक्तिः दाने श्रीकृष्णस्येति ॥ १३ ॥

नृत्यन्ती गायती काचित् कूजन्नूपुरमेखला ।
पार्श्वस्थाच्युतहस्ताब्जं श्रान्ताधात् स्तनयोः शिवम् ॥१४॥

अन्यस्याः कस्याश्चित् पूर्वं मनोरथचिन्तितं स्वकुचोपरि श्रीकृष्णहस्तस्थापनं तदिदानीमाह नृत्यन्तीति, काचित् प्रिया नृत्यन्ती गायती च नृत्यगानयोः परस्परविरोधेन साहचर्य्याभावेऽपि तस्या वैदग्धीविशेषप्राकट्यं सूचितं श्रमजनकत्वमप्युक्तम्। कीदृशी कूजती नूपुरे मेखला च यस्याः सा, अनेन चरणगतिभेदः कटिचालनभेदश्च सूचितः । किं च नृत्यगानयोरसविशेषजनकत्वे नूपुरमेखलारूपवाद्यभेदस्य साहाय्यं सूचितम् । अत एव श्रान्ता सती पार्श्वस्था स्वस्मिन् किंचिच्छैथिल्यमालक्ष्य शैथिल्यनिरसनं अच्युतस्य विलासच्युतिरहितस्य तयैव नृत्यगानालिङ्गनादिना पोषितत्वात् शैत्यहेतुश्रमनिवारकं हस्ताब्जं अन्योन्यवाहुमण्डलं बन्धं त्याजयित्वा स्तनयोरधात् स्थापितवती । कीदृशी शिवं सुखरूपम्। अनेन नृत्यगानोत्तरवृद्धौ हस्तस्पर्शस्य परमहेतुत्वमुक्तम् ॥ १४ ॥

गोप्यो लब्ध्वाच्युतं कान्तं श्रिय एकान्तवल्लभम् ।
गृहीतकण्ठ्यस्तद्दोर्भ्यां गायन्त्यस्तं विजह्रिरे ॥१५॥

एवं यूथमुख्यानां कासांचित् पृथक् पृथक् चेष्टितमुक्त्वाऽधुना सर्वासां सामान्यतः स्वरूपकृतां लीलामाह गोप्य इति, गोप्यः स्वनिष्ठं रसं परस्परमपि गोपायन्ति ताः, अच्युतं क्षणमपि विलासच्युतिरहितं, कान्तं रमणं अन्तर्बहिश्च निजानन्ददायिनमित्यर्थः । लब्ध्वा प्रेम्णा सुलभत्वेन प्राप्य तस्य दुर्लभतामाह - सर्वासां प्रेयसीनां परमावधिरूपाया श्रिय एकान्तवल्लभं परमप्रेष्ठम्, यद्वा एकान्ते अन्तपुर एव वल्लभम् । तत्रैव तस्या अधिकारो न तु रासगोष्ठ्यामिति । यद्वा श्रियः कान्तं कामनाविषयमपि एकान्ते कालिन्दीपुलिने बन्धुम् । अर्थात गोपीनामेवेति । यद्वा एकान्तं वृन्दारण्यप्रदेशादिकं वल्लभमतिप्रियं यस्येति वैकुण्ठादि सदोद्ग्राहर्मिति प्रसिद्धेः। कीदृशं कृष्णं श्रिय च्युतं तस्यामनाशक्तेः "यद्वाञ्छया श्री र्ललना चरत्तापो-विहाय कामानि" त्युक्तेः अतश्च एवालभ्यलाभत्वेन लब्ध्वा तमेव गायन्त्यो विजह्रिरे, यथाभिलषितं चुम्बनालिङ्गनादि - विलासमाविश्चक्रुरिति । न केवलं तासामेवालभ्यलाभत्वेनोत्कर्षः किं तु तस्यापीत्याह । तद्दोर्भ्यां उभयपार्श्व स्थितस्य तस्य दोर्भ्यां गृहीतः कण्ठो यासां ता दुर्लभत्वं कण्ठमित्येव सुवचं लब्ध्वा उभयतः कण्ठे नालिङ्गितवानित्यर्थः । अत एव गाननृत्ययोरत्यावेशः सूचितः। तत्र विहारे तासां स्वातन्त्र्यं च निरूपितमिति उद्धवोऽपि तथैवाग्रे वक्ष्यति च "नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः । रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठलब्धाशिषं यः उदगाद्व्रजसुन्दरीणामि"त्यादि ॥
॥ १५ ॥

कर्णोत्पलालकविटंककपोलघर्म-
वक्त्रश्रियो वलय-नूपुर-घोषवाद्यैः ।

गोप्यः समं भगवता ननृतुः स्वकेश-
स्रस्तस्रजो भ्रमरगायकरासगोष्ठ्याम् ॥१६॥

एवं तावत्तासां स्वातन्त्र्यमुक्त्वा रासरभसजनितं शोभाभर-मभिनयेनाभि - व्यंजयति, कर्णोत्पलेति – गोप्यः भगवता समं ननृतुः नृत्ये गोपीनां मुख्यत्वं भगवतो गौणत्वं तासां चरण-विन्यासविशेषमालक्ष्य नृत्यमानत्वात् । भगवतेति गोपीसभा-पतित्वेन रसैश्वर्यव्यंजयता सममिति । तत्साहित्यं परमशोभा-व्यंजकमिति सूचितम् । यद्वा समं सदृशं यथा भवति तथेति सर्वकलाकौशलदर्शनेन सामरस्यं सूचितम् । रासरभसे तासां श्रम-जनितशोभाविशेषमाह कर्णेति कर्णयो भूषणत्वेन स्थिताभ्यां अलकोत्पलादयस्तेषां विटङ्कौ आश्रयौ कपोलौ ताभ्यां च "कपोतपालिकायां च बिटङ्कं पुन्नपुंसकमि" त्यभिधानात्, घर्मैः प्रस्वेदबिन्दुभिश्च वक्त्रेषु श्री शोभा सम्पत् यासां ताः । अनेन तासां वक्त्रशोभैव श्रीकृष्णस्य नृत्योद्दीपका जाता । तस्य बल-यनूपुरघोषवाद्यै रिति तासां नृत्योद्दीपकत्वं ध्वनितम् । बलयादि-वाद्यानामुभयत्रोद्दीपकत्वं सूचितम् । श्रमस्य सूचकान्तरमाह-स्वकेशेति स्वकेशेभ्यः स्रस्ता स्रजो यासां ताः, कुत्रेत्यपेक्षायां तत्राह भ्रमरा एव गायका यस्यां रासगोष्ठ्यां राससभायां, अयमभिप्रायः पूर्वमुक्तं ततो दुन्दुभयो नेदुरिति, बलयानां नूपुराणामिति, सदा गन्धर्वादीनां वाद्यवादकानां च गानं वाद्य-वादनं च नृत्यानुकूलमेवासीत् बलयादीनां शब्दसांकर्येपि वाद्यानां शब्दस्य तदनुकूलत्वमेव तालगतिसमाप्तौ तेषां शब्दस्य साहचर्यात् । इदानीं लोकशास्त्रमर्यादातिक्रमेण नृत्ये प्रवृत्ते सति स्वरतालरागग्राममूर्छनाज्ञानाभावात् । गायकेषु वादकेषु चोपरतेषु सत्सु स्वयमुत्प्रेक्षिततालस्वरभेदमनुगतानां बलयादि-

वाद्यानामुद्दीपकत्वमुक्तम्, यद्वा देवदुन्दुभ्यादिशब्दस्यैतस्मिन्नेव लीनत्वान्न पृथक् श्रवणमिति भावः । अन्यच्च तालगतिसमाप्ति-शब्दस्याभिभाव्यत्वं वलयादिशब्दस्याभिभावकत्वम । अत एव वलयादिशब्देभ्य उच्चैः श्रूयमाणत्वात् । मुख्यदुन्दुभ्यादि-शब्दस्यैतस्मिन्नैव लीनत्वान्न पृथक् श्रवणमिति भावः । अन्यच्च तालगतिसमाप्तिज्ञानाभावात् पुष्पवृष्टिरूपरतिः सूचिता, स्वर-ज्ञानाभावाद्गन्धर्वाणां गीतोपरतिः । भ्रमरास्तु मालासम्बन्धिन अत एव गोपीमण्डलसहचराः गोपिभिः सह तेषामपि परिभ्रम-णमुक्तं वने भ्रमरा एवाधिकृताः, वाद्याधिकारे बलयनूपुराद्या अधिकृता, पुष्पवृष्टौ केशा एवाधिकृता इति स्वयमुत्प्रेक्षितमलौ-किकं रसैश्वर्यमाविष्कृतमित्यर्थः । किं च कर्णयोरुत्पलस्या-यममृतसम्भ्रमे पतनशङ्कानिरसनेन स्वचातुर्यप्रकाशनकपोल-योः परभागव्यंजनार्थमिति भावः । अलका भ्रमरा इव रस-पातारस्तेषां बिटङ्करूपैः कपोलौ तत्र घर्मो नृत्याभिनिवेशाज्जातं श्रमजलं तै र्वक्त्रेषु श्री शोभा सम्पद् यासां ताः, कपोलसंलग्नैर-लकैः मृगमदपत्ररचना कृता । श्रमबिन्दुभिर्मुक्तानामिव रचना विशेषः कृत इति सर्वं तेनालौकिकमेव सम्पादितमिति भावः ॥१६॥

एवं परिष्वङ्गकराभिमर्श –
स्निग्धेक्षणोद्दामविलासहासैः ।
रेमे रेमेशो व्रजसुन्दरीभि –
र्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः ॥१७॥

एवं सर्वलीलोपसंहारं वक्तुं प्रस्तुतस्य श्रीकृष्णविला-सस्य प्राधान्यमाह एवमिति, लक्ष्मीतोऽपि तासां सौभाग्याति-शयं वर्णयति । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण परिष्वङ्गं आलिङ्गनं ततः कराभिमर्शं कुचादिस्पर्शः स्निग्धेक्षणं भावव्यंजकं तत्तदवयवा-

नामवलोकनं उद्दामोऽत्यूर्जितो विलासः। तदुक्तं रसार्णवे-"वृषभ-
स्येव गंभीरा गतिर्द्धीरं च दर्शनम्। सस्मितं च वचो यत्र स
विलास इतीरितः"। हास्यश्च चातुरक्षिके दर्शने भावगर्भे हासैः
एतैः, यद्वा व्रजसुन्दरीणां परिष्वंगादिभिः तत्र परिष्वङ्गो नृत्य-
विशेषेन प्रसादत्वेन साधु साध्विति प्रशंसनपूर्वकमालिङ्गनं
तदनन्तरं करयोरभिमर्शः। स्वकराभ्यां वैदग्धीविशेषेण सम्म-
र्द्दनं स्निग्धेक्षणं च भ्रूनर्त्तनादि भाव-विशेषास्वादकमीक्षणं
उद्दामो निरर्गलो विलासः। तदुक्तं रसार्णवे "प्रियसम्प्राप्ति-
समये भ्रूनेत्राननकर्मणाम्। तात्कालिको विशेषो यः स विलास इती-
रितः"। परिष्वङ्गादिहेतुको हास एतैः करणभूतै रमेशोऽपि श्री-
पतित्वमवगणय्य रमायां तादृशभावानाकलनात् व्रजसुन्दरीभिः
सह रेमे। सामरस्यं दृष्टान्तेनाह यथार्भक इति। अर्भकस्त्वनुद्दे-
श्यक्रियाकारी स्वभावत एव हस्तमुखादिविकारादिक्रियां कुरुते।
तादृशीं क्रियां स्वप्रतिबिम्बे यत् पश्यति तदा तेन सह विभ्रमं
करोति तद्वत्। अर्भको हि यावत् करोति तावदेव तस्य प्रति-
बिम्बमपि करोति। सर्वथा वै सादृश्याभावे दृष्टान्तः। पूर्वं विम्बे
कृतिः पश्चात् प्रतिबिम्बे कृतिर्भवति। यथा च बिम्बप्रतिबिम्बयो-
रेकरूपत्वं धर्मेण न तु स्वरूपेण दृश्यते च स्वरूपभेदः। अत एव
बालः आदर्शे प्रतिफलितमात्मानं न जानाति किं तु द्वितीयमेव
तस्य च यथा प्रतिबिम्बदर्शनेनोत्साहाधिक्यं क्रीडाभिनिवेशश्च
भवति तथात्रापि बिम्बस्थानीयः श्रीकृष्णः प्रतिबिम्बरूपा-
भिस्ताभिः सह स्वीयैः परिष्वङ्गादिभिस्तासामुद्दीपकैः करणैः रेमे
अयमर्थः। पूर्वं श्रीकृष्णे विलासोदयः पश्चात्तदनुसारेण तासु
विलासोदय इति। तदाचार्य्यैर्व्याकृतं स्वीयमेव कलाकौशलं
तासु संचार्य्य भगवांस्ताभिः सह रेमे इति। तस्यायमभिप्रायः
कृष्णविलासोदये तासां विलासो न तु तासु कलाकौशलाद्य भव

इति अन्यथा रसाभासापत्तेरिति। अर्भकदृष्टान्तस्तु कृतिसाम्ये
न तु मिथ्यात्वे। अन्यथा गोपीप्रतीतेः सोपाधिकत्वं स्यात्।
वस्तुतस्तु यथा श्रीकृष्णः सच्चिदानन्दघनस्तथा ताः अपि सच्चि-
दानन्दस्वरूपा एव विजातीयत्वे रमारतिशैथिल्येन तासु रमा-
संभवात्। यद्वा रमेशोऽपि सर्वकलाकौशलयुक्तोपि औपपत्य-
सुखमधिकमिति ज्ञात्वा व्रजसुन्दरीभिः सह रेमे। कीदृशः
स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः स्वस्य यत् प्रतिबिम्बं स्वच्छेषु मुकुरस्था-
नियेषु गोपीनां गण्डेषु प्रतिफलितं बिम्बं तेन लावण्यपुञ्ज-
वता विभ्रमो विलासो यस्य, यद्वा विविधो भ्रमो यस्य तासां
गण्डेषु प्रतिफलितबिम्बबहुत्वमालक्ष्य भ्रमो यस्य, एकस्य मम
कथं बहुरूपत्वमिति। तासां विलासाभिभूतस्य स्वरूपस्या-
ननुसन्धानात् इति। यद्वा स्वस्मिन् तासां बिम्बं कराङ्गुली-
नखादिषु प्रतिफलितं तेन विभ्रमः संभ्रमो यस्य, नृत्यमाना
एताः कथमत्रागता इत्यादरातिशयेन पश्यत एव। यथा व्रज-
सुन्दरीभिः सह परिष्वङ्गादिभिः रेमे तथैव तासां प्रतिबिम्बैः
सह परिष्वङ्गादिभिः रेमे। यथाऽर्भकः स्वप्रतिबिम्बेन सह
प्रश्नहास्यहस्तस्पर्शादिना विहरति, यद्वा सुष्ठु अप्रतिनिरूप-
मेषु गोपीबिम्बेषु विगतो भ्रमो यस्य, गोपीस्वरूपेषु निरूपम-
सौन्दर्य्यनिश्चयात्। रमायां सौन्दर्य्यविलासादिकं लोके च
मन्दमिवलक्ष्य व्रजसुन्दरीभिः सह रेमे। अयमभिप्रायः रमा
तु स्वांशैः सुरेन्द्रदितिजेन्द्रादिलोकेषु प्रविशति। एतास्तु नान्यत्र
प्रवेशोऽनन्यत्वेन मदीयव्रज एव तिष्ठन्ति। अत एवैतासु मया
प्रीत्यतिशयः सम्भावनीय इति भ्रमाभावः सूचितम्। स्व-
स्यापि नित्यं व्रज-प्रियत्वादिति तथा चोक्तं ब्रह्मसंहि-
तायां-"आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभिस्ताभिर्य एव निज-

रूपतया कलाभिः। गोलोक एव निबसत्यखिलात्मभूतो गोबि-
न्दमादिपुरुषं तमहं भजामि" ॥१७॥

तदङ्गसङ्गप्रमुदाकुलेन्द्रियाः

केशान् दूकूलं कुचपट्टिकां वा।

नाञ्जः प्रतिव्योढुमलं व्रजस्त्रियो

विस्रस्तमालाभरणाः कुरूद्वह ॥१८॥

एवं रसपराकाष्ठां निरूप्य प्राप्ते सति इतः परं वृद्धिम-
दृष्ट्वा पुनर्वृद्धिं गमयितुं तासु शैथिल्यं कारितवानित्याह तद-
ङ्गेति, तस्याङ्गसङ्गालिङ्गनादिना सर्वावयवस्पर्शस्तेन प्रकृष्टा
मुत् अवधि-भूत आनन्दस्तेनाकुलानीन्द्रियाणि यासां ताः,
तासां सर्वासामतिकर्तव्यताशून्यत्वं जातमितिभावः। केशा-
निति-आकुलताचिन्हमाह केशान् कवरान् दुकूलं तदुपरित-
नीयं परिहितं च कुचपट्टिकां कुचोपरि उत्तरीयान्तं अञ्जः
सामस्त्येन यथा पूर्व प्रतिबोढुं धर्त्तुं यथा स्थानं प्रापयितु-
मित्यर्थः नालं न समर्था जाता इति व्रजस्त्रिय इति। चातुर्य्य-
बिशेषानभिज्ञत्वेन स्वातन्त्र्याभावोऽभिप्रेतः। आकुलेन्द्रियत्वे
श्रमस्यापि हेतुमाह बिस्रस्ता स्थानच्युताः मालाभरणानि च
यासां ताः, यद्वा बिस्रस्ता मालात्रुटिता सूत्रशेषा एव आ
ईषदिव बिभ्रतीति ताः। रासक्रीडाश्रमसुखेन बहिर्वृत्तिशून्यं
राजानमबधारयति कुरुद्वहेति अयं भावः स्वप्रतिबिम्बविभ्रम
इति यदुक्तं तस्यायमर्थः पूर्वं बिम्बे क्रिया ततः प्रतिबिम्बे-
ऽपि। एवं श्रीकृष्णे क्रीडोपयोगिनी क्रिया तदनुसारेन व्रज-
देवीषु। इदानीं तासां बिलासाभिभूते कृष्णे क्रियोपरतिस्त-
दा तु तासु क्रियोपरतिः (क्रियोपरतिः) यथा बिम्बस्य क्रिया-
राहित्ये प्रतिबिम्बस्यापि क्रियाराहित्यं भवत्येव। तथात्राऽप्यु-

क्तेयं विस्रस्तमालाभरणा जाता इति समञ्जसम् ॥१८॥

कृष्णविक्रीडितं वीक्ष्य मुमुहुः खेचरस्त्रियः।

कामार्दिताः शशांकश्च सगणो विस्मितोऽभवत् ॥१९॥

एवं सामान्यतः शृङ्गग्राहिकान्यायेनैकस्मिन् दिबसाबसाने
सङ्क्षेपतः कृतां लीलां निरूप्यान्यदपि एवं बिधं लीलानामन्ता-
भावं निरूपयिष्यन् तत्र सभर्त्तृकानां देबीनां मोहं बिवृण्वन्
सगणस्य चन्द्रस्यापि मोहमाह-कृष्णेति, कृष्णस्य परमानन्द-
मूर्तेः शृङ्गारमूर्त्तेरिति बा, तस्य बिक्रीडितं रासविलास-
रूपं क्रीड़ां बीक्ष्य प्रीतिपूर्वकं दृष्ट्वा खेचराः देबादयः एके
गायका एके बाद्यवादका एके पुष्पवृष्टिकर्तारः एके सभासदः
एते सर्वे सर्वदा लीलादर्शनाधिकारिणः अत्र तु स्त्रिप्राधान्ये-
नागतानांतासां मोहेन तेऽपि मोहिता इत्याह। खेचराः देवादय-
स्तेषां स्त्रियो मुमुहुः। अग्रे युग्मश्लोकानुगीते एता एव बक्ष्य-
न्ति। व्योमयानबनिता इति। तत्र हेतुमाह कामार्दिताः कृष्ण-
बिषयेण लौकिककामेन पीडिता देवगन्धर्बादीनां पुरुषाणां
चेन्मोहस्तदा स्त्रीणां मोहः किमुत बक्तव्यमिति। यतो हि ते
पुरुषा अपि चलिताः स्वस्यायोग्यत्वं देहादिकं बिस्मृत्य तत्रैब
निष्क्रियास्तस्थुः अन्यच्च शशाङ्कश्चन्द्रः सगणो ज्योतिर्गणसहितो
बिस्मितोऽभवत्। आचार्य्यै रेवं व्याख्यातं-शशाङ्केन स्व-
गतौ बिस्मृतायां सत्यां तदुपरितनानामन्येषां ज्योतिर्गणानां
गतिनिरोधो जातस्ततश्चातिदीर्घासु रात्रिषु स्वच्छन्दतो रेम इति
बास्तबोऽर्थः स्वयमेवाऽभिप्रेतः उपक्रमे उक्तं "भगवानपि ता
रात्री"रति ऐश्वर्य्यनिरोध उक्तः। उपसंहारे च तथैवोन्नेयं
ऐश्वर्य्यनिरोधात्। तच्चेष्टारूपस्य कालस्यापि निरोधो जातः। तदुक्तं
देबकीस्तुतौ "योऽयं कालस्तस्य तेऽव्यक्तबन्धोश्चेष्टामाहुश्चेष्टते
येन बिश्वम्" इति। अत एव तदाश्रयस्य शिशुमाररूपस्य ज्योति-

श्चक्रस्य निरोधे जाते तदाश्रयभूतानां ज्योतिर्गणानां स्वत एव
निराधो जातः, ततश्च रात्रीणामतिदीर्घत्वे जाते यथा सुखं
रेमे । ननु ऐश्वर्य्यनिरोधे कालाधीनज्योतिश्चक्रस्य निरोधो
भवतु चन्द्रस्य पृथग्गतिमतो निरोधः कथमिति चेत्तत्राह श्री-
कृष्णस्य मनसि निरुद्धे सति शशाङ्कस्यापि निरोधो जातस्तस्य
तु मनः कार्य्यत्वात् । "चन्द्रमा मनसो जात" इति श्रुतेः । किं-
च चक्रेऽवतीर्णानां देवीनां तदधिष्ठातृणां श्रीकृष्णविलासेन
निरोधे जाते तदंशभूतस्य तारागणस्यापि निरोधो जात इत्य-
भिप्रेत्योक्तं सगणो बिस्मृतोऽभवदिति । सर्वेषां देवीनां च
बिमोहे जाते शशाङ्कस्यापि मोहो जातस्तस्य देवोत्तमत्वात् ।
तारागणस्यापि मोहो जातस्तस्य देवीत्वादिति । ततश्चासंको-
चेनातिदीर्घासु रात्रीषु रेम इति ॥१६॥

कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः ।

रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया ॥२०॥

इदानीं स्वप्रतिश्रुतं सत्यं सम्पादयता श्रीकृष्णेन तासा-
मभिप्रायेण कृतां बहुरूपतां निगमयति । कृत्वेति, यावतीः
यावन्त्यो ब्रजयोषितः । ब्रजे पञ्च बिधा गोप्यः एका नित्य-
सिद्धा १ उपासनासिद्धा २ देव्यश्च ३ उपनिषद् ४ दण्डका-
रण्यबासिनो मुनयश्च ५ तत् तदभिप्रायेण तावन्तमात्मानं
कृत्वेति । श्रीकृष्णविग्रहस्याचिन्त्यशक्तित्वात् पूर्णत्वाच्च । तथा
चात्रैवोक्तमाचार्य्यैः "बन्धने द्व्यगुला-पूर्त्या पूर्णतामन्यदर्श-
यति" । किं च मध्यपदानावृत्तिरेकबचनं च गोपीदृष्ट्यभि
प्रायेण बहुत्वं चोक्तार्थमेव अग्रे बदयति च "चित्रं बतैतदेकेन
बपुषा युगपत् पृथक् । गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावह-
दिति" । आत्मारामोऽपि आत्मारामत्वमवगणय्य ताभिः सह
लीलया रेमे । अनायासकर्मका क्रिया लीलेति । नन्वेक.यूथ-

बतीनां सम्माननं कथमिति चेत्तत्राह भगबानिति, साम-
र्थ्यद्योतनं ऐश्वर्य्येण बिराजमान इत्यर्थः, अत एव तासां
बह्वीनां मधुररसेन पोषणजातमिति । कात्यायन्यर्चनपराभिः
यत् प्रार्थितं प्रत्येकं "पतिं मे कुरुते नमः" इति श्रीकृष्णे-
नापि प्रतिश्रुतत् सर्वं सिद्धेः जातमिति ॥२०॥

तासामतिविहारेण श्रान्तानां वदनानि सः ।

प्रामृजत् करुणः प्रेम्णा शन्तमेनाङ्ग पाणिना ॥२१॥

इदानीं तत्सम्माननमेकेन श्रीकृष्णेन कृतमिति । श्रीशुकः
स्वानुभवमेव कथयति-तासामिति, अतिविहारेण रासरभ-
सेन निकुञ्जादिषु सुरताभिनिवेशेन वा श्रान्तानां सम्वर्द्धयितु-
मशक्तानां चैबाङ्गमिव प्राप्तानां तासां पञ्चबिधानामपि वद-
नानि सन्तमेन परमसुखकरेण मधुररसं नबीकर्तुं पाणिनेति
एक बचनं विग्रहस्यैकत्वविवक्षयेति । प्रामृजत् प्रस्वेदजलकणा-
नपसारितबान् स्वच्छेष्वप्यलिकेषु गण्डमण्डलेषु स्वप्रतिबिम्ब-
दर्शनार्थस्वेदबिन्दुनिरसनमिति भावः । सीमन्तेषु मुक्ताभूषणानां
स्वस्थानस्थापनेनालकानां समं नयनेन च गण्डमण्डलावलम्बना-
दिना मधुररसस्य पुनरपि नवीकरणमिति प्रशब्दस्यार्थः यतः
करुणः । अतः करुणरसस्य मधुररसगमेव, एकबचनेन स्वरूपै-
क्यमेवाभिप्रेतम् । प्रेम्णेति तासु प्रीत्यतिशयेन श्रीकृष्णस्य
तदाराधनं परमपुरुषार्थं इत्यपि सूचितम् । अङ्गेति सम्बोधनेन
श्रीकृष्णस्य तदायत्तत्वम् ज्ञाप्यते । तदेवं सर्बासां युगपद्व-
दनमार्जनादि एकस्यैव पाणौ लाघवप्रदर्शनाचिन्त्यशक्तिप्रकट-
नमिति तात्पर्य्यार्थः ॥२१॥

गोप्यः स्फुरत्पुरटकुण्डलकुन्तलत्विड्-

गण्डश्रिया सुधित-हास-निरीक्षणेन ।

मानं दधत्य ऋषभस्य जगुः कृतानि
पुण्यानि तत्कररुहस्पर्शप्रमोदाः ॥२२॥

उज्वलरसावि-
तदेवं श्रीकृष्णकर्तृकं तासां सम्मानमुक्त्वा
भूते सति ताभिः कृतं श्रीकृष्णस्य सम्मानमाह गोप्य इति।
गोप्यः ऋषभस्य प्रेष्ठस्य वा उज्वलरसोद्दीपनेन श्रेष्ठत्वं सूचितं
इति। तस्य मानं सम्मानं दधत्यः पोषयन्त्यः तत्र साधनमाह-स्फु-
रदिति स्फुरत्कुण्डलानां कुन्तलानामलकानां त्विट् येषु तेषां
गण्डानां कपोलानां श्रिया शोभया नृत्यविशेषे कुण्डलानाम-
लकानां गण्डेषु स्वत एव स्फुर्तिर्भवति। इदमेव सम्मानं
स्वशोभासमर्पणम् इति। तत् सुधितो हास उज्वलो हासः चातुर-
क्षिके दर्शने निरर्गलो हासो भवतीति, मधुररसस्यायं स्वभावः।
तत्पूर्वकं निरीक्षणेन चेति स्वहृदयसमर्पणम्। ऋषभस्यात्रा-
प्यन्वयः। पुण्यानि श्रवणमात्रेणान्येषां पावनानि कृतानि
गोवर्द्धनोद्धरणादीनि रहस्यानि जगुः। गानोद्दीपकमाह-तत्कर-
रुहैर्नखैर्यः स्पर्शः सदयं नखक्षतादिना स्पर्शः बालानामिदं यत्
नखक्षतायोग्यत्वात् स्पर्श इत्युक्तेः। एतास्तु कुमार्य्य एव
कुण्डलधारणलिङ्गात्, प्रौढानां ताटंकधारणस्य प्रसिद्धत्वात्
इति। तेन कटकस्पर्शेन प्रकृष्टो मोद आनन्दो यासां ताः, यद्वा
स्फुरतोः पुरटकुण्डलयोः कुन्तलानां च त्विट् ययोर्गण्डयोः
स्मितसुधितहासनिरीक्षणेन चोपलक्षितस्य ऋषभस्य मानं साधु
साध्विति पूजां कुर्वत्यस्तस्य कृतानि पुण्यानि तनुसङ्गादीनि
सुखानि जगुः अन्यत्समानम् ॥२१॥

ताभिर्युतः श्रममपोहितुमङ्गसङ्ग-
घृष्टस्रजः स कुचकुङ्कुमरञ्जितायाः।

गधर्वपालिभिरनुद्रुत आविशद्वाः
श्रान्तो गजीभिरिभराडिव भिन्नसेतुः ॥२३॥

एवं रत्यभिनिवेशेन श्रान्तानामपि गाने सुखबिशेषो दर्शित-
स्तेन च श्रमाभावोपि सूचित इति, इदानीं पुलिनलीलातो-
ऽपि जलक्रीडासुखमनुभवितुं रतिजनितश्रमापनोदनछद्मना
जलकेलिना हृताभिरिति तासां स्वकृतरतिजनितं श्रममपोहितु-
मपनेतुं वा जलमबिशत्। कीदृशस्ताभिर्व्रजसुन्दरीभिर्युतः
पुनः कीदृशः अङ्गसङ्गघृष्टस्रजः अङ्गयोः सङ्गेनाश्लेषेण घृष्टा
सम्मर्द्दिता स्रक् कुन्दकुसुममाला तस्या सम्बन्धिभिर्गन्धर्व-
पतय इव गानकर्तारस्तेषां तेऽलयस्तैरनुद्रुतोऽनुगत इत्यर्थः।
पूर्वमुक्तं गायकेषु वादकेषु च रसावेशेन मुह्यत् स
सत्सु अन्यामेबन्तरंगो गायकबादकसम्पत्तिं प्रदर्शितवान्।
अत एबालिभिरेवानुगत इत्युक्तम्। कीदृशायाः स्रजः स्वकुच-
कुङ्कुमरञ्जितायाः स्वशब्देन व्रजसुन्दर्य्यस्तासां कुङ्कुमैरञ्जि-
तायाः, अनेन सौगन्ध्यवैशिष्ट्यं सूचितम्। यद्वा स्वा स्वकीया
चासौ कुङ्कुमरञ्जिता या स्रक् श्रीकृष्णस्यैव माला तासां
कुचकुङ्कुमै रञ्जिता परभागं नीता। अनेनैतत्सूचितं श्रीकृष्णा-
ङ्गसौगन्ध्यं पद्मिनीजातीनामेतासां स्वाभाबिकदेहसौगन्ध्यं कुच-
कुङ्कुमस्य सौगन्ध्यं कुन्दकुसुमस्रजः सौगन्ध्यं एतत्सौगन्ध्यचतुष्टय-
लुब्धैस्तत्परिपुष्टैरन्तरङ्गैरलिभिरनुगतः। कालिन्दीसम्बन्धिशैत्य-
कर्बुरितं सौगन्ध्यमनुभवितुं बनेऽपि तत्र तदङ्गपरिमलं प्रत्यक्षी-
कर्त्तुं एव परितः स्थिता इत्यर्थः। या व्रजसुन्दर्य्यस्तस्याङ्गसङ्गेन
घृष्टा सम्मार्जिताः स्रजो यासां ताः, अत एव रत्यभिनिवेशेन
यत् श्रमबारि तेन स्वांगानि निजकुचकुङ्कुमैरेव रञ्जितानि
यासां ताभिर्युत इति जलकेलिष्वनुरूपं दृष्टान्तमाह।
न केवलं ता एव श्रान्ताः किंतु श्रीकृष्णोऽपि इत्यत्र दृष्टान्त

हेतुगर्भं बिशेषणमाह श्रान्त इति । इभराडिव अविचारे जलक्रीडायां गजस्यैबौद्धत्यं श्रान्तस्य विचारासामर्थ्यात् । कीदृशो भिन्नसेतुः जलगजीभिः करिणीभिः सह जले बिहरति परिणामे रक्षार्थं सेतबो बध्यंते तान् बिदार्य्य जले प्रबिशति । इभराडिवेत्यत्र स्वरुपैक्ये गजीभि बिचाराभावः सूचितः । श्रीकृष्णोऽपि वेदकृतमर्य्यादातिक्रमात् आत्मारामत्वातिक्रमात भरतशास्त्रमर्य्यादातिक्रमात् च भिन्नसेतुरित्युक्तम् । न ह्येतादृशी रतिः क्वापि दृष्टा श्रुता वा । यथा भगवत अचिन्त्याऽतर्क्यशक्तिमत्वं तथा तासामपीति ज्ञेयम् । भगवत् प्रतिबिम्बरूपत्वात्तासामन्यथा सामर्थ्याभावः स्यादिति ॥ २३ ॥

सोऽम्भस्यलं युवतिभिः परिषिच्यमानः
प्रेम्णेक्षितः प्रहसतीभिरितस्ततोऽङ्ग ।
वैमानिकैः कुसुमवर्षिभिरीड्यमानो
रेमे स्वयं स्वरतिरत्र गजेन्द्रलीलः ॥२४॥

इदानीं जलकेलिसम्भ्रममाह स इति, रत्यभिनिवेशेन यः श्रांतः व्रजसुन्दरीजीवातुभूतः स इति । अम्भसि जलमध्ये युवतिभिस्तरुणीभिरलमतिशयेन पराजयमनुसन्धाय परिसिच्यमानः परितः सम्वेष्ट्य इतस्ततः सर्वदिक्षु सर्वांगेषु सिच्यमानः स्वयमपि ताः सिंचन् पराभवं नयन्निव रेमे । युवतिभिरिति रसपूर्णत्वमुक्तम् । प्रहसतीभिरिति स्वकृतसेकोद्रेके तस्य पराजयलक्ष्याट्टहासः सूचितः । पुनः कीदृक् प्रेम्णा ताभिरिक्षितो दृष्टः । यद्वा प्रेम्णैव ईक्षितः तदुक्तं "स प्रेमा भेदरहितं यूनोर्यद् भावबन्धन"मिति मूर्त्तिमता प्रेम्णा ईक्षितः कटाक्षविषयीकृत अतस्ताभिः सह जले विजहारेति पाठान्तरे प्रेम्णोक्षितः प्रेम्णानुक्षितः

अन्तः सिक्त इत्यर्थः । वहिस्तु जलैः सिक्तः अयमभिप्रायः यथा जलैः सिक्तो वृक्षः पल्लबितो भबति तथात्र नवाऽनुरागपयसि बहिरन्तः सिक्तः पल्लबितो जात इति पूर्वमुक्तं देबादीनां गानवाद्यपुष्पवर्षाद्यधिकृतानां मोहेन स्थगितत्वम् । इदानीं रासोपरमे जलकेलिप्रारम्भे यथाधिकारसर्वेषामबधानप्रकारमाह – वैमानिकैर्जलकेलिसम्भ्रममालक्ष्य इन्द्राद्यैः कुसुमबर्षिभिरीड्यमानस्तस्य पराजयं दृष्ट्वा उत्साहं वर्द्धयद्भिः जय जयेति स्तूयमानः, यद्वा बिरराम नायिकाकृतपराजयस्य रसपोषकत्वात्तं दृष्ट्वा बिस्मितैः साधु साध्बिति प्रशंसमानः, यद्वा एतेन सर्वातिरेकेणानेकयूथानां तासां सेककृतपराजयमाकलय्य तदन्तरे कुसुमबर्षिभिः साधु साधु जय जयेति वाग्भ्यः स्तुयमानः स्वयं रेमे रतिं प्राप । अङ्गेति सम्बोधनेनाश्चर्य्यश्रबणेऽवधापनं कारयति । कीदृशः स्वरतिरपि आत्मारामोऽपि आत्मारामत्वमवगणय्य ताभिः सह रेमे इति । यद्वा जयदर्शनेन स्वेषु प्रियेषु गोपीजनेष्वेव रतिर्यस्य, यद्वा सा स्वकीया असाधारणा अखण्डिता रति र्यस्य, यद्वा स्वेषां गोपीजनानां रति र्यस्मिन्, यथा जले सौक्ष्मणं तया । तथा रतेरुत्कर्षं इति ज्ञापयितुं तेषां तत्वेनाह गजेन्द्रलील इति । गजेन्द्रस्य लीलेव लीला यस्येति उक्ताभिप्राय एव ॥ २४ ॥

ततश्च कृष्णोपवने जलस्थल –
प्रसून–गन्धानिल–जुष्टदिक्तटे ।
चचार भृङ्गप्रमदागणावृतो
यथा मदच्युद् द्विरदः करेणुभिः ॥२५॥

तेषां नृत्यक्रीडाजनितश्रमापनोदनाय जलक्रीडा वर्णिता, इदानीं जलबिहारेण धौताङ्गरागाणां बिपर्य्यस्तनेपथ्यानां पुन-

विहारमाह ततश्चेति, जलनिर्वीकृतपुष्पमयनेपथ्यस्वीकारसहितविहारमाह ततश्चेति, जल-
केल्यानन्तरमर्थं तत इति, कृष्णोपवने कृष्णा यमुना तस्या उप-
बने चचार बिजहार बभ्रामेति बा। कीदृशः जलस्थलप्रसूनानां
गन्धो यस्मिन् तेनानिलेन पवनेन जुष्टानि सेवितानि विध्यां
तटीनि यस्मिन् अनेन वायोस्त्रैविध्यं सूचितमिति। जलसम्बन्धेन
शैत्यं पवनसम्बन्धेन सौगन्ध्यं बनसम्बन्धेन मान्द्यं वायोरपि
रत्युद्दीपने सहाय्यमुक्तम्। भृङ्गप्रमदागणावृत इति, भृङ्गाङ्गणा-
वृतत्वं धौताङ्गरागस्यापि तस्य स्वाभाबिकाङ्गपरिमलमुखामोद-
लुब्धभ्रमरसाहित्यं ज्ञेयम। प्रपदागणावृतत्वं पुनरपि पुष्पाव-
चयपल्लवादिनिर्मित - शय्याभरणादि - पुष्पमयनेपथ्यादिरचना-
कुंजादिप्रवेशनिलायनादिक्रीडाबिशेषजनितसुखविशेषमनुभवितुं
प्रमदागणावृतत्वमुक्तं स्वातन्त्र्येण क्रीडायां इतरबिस्मरणे च
मिथः प्रीतौ च मिथः मत्ततायां च दृष्टान्तः यथा मदच्युद्
द्विरदः, मदं च्युवतीति मदच्युद् पूर्वपरानुसन्धानरहित इत्यर्थः।
करेणुभिरिति तं बिना तासां जीबनसन्देह इति रसवृत्तिः सू-
चिता एवमन्योन्यं रतौ परस्परसापेक्षत्वं सूचितम्। यथा गजेन्द्रो
बने प्रविश्य कस्यचिद् वृक्षस्य शाखाभङ्गं करोति कुत्रचित
लताभङ्गं करोति कुत्रचिदालबालं भिनत्ति तद्वच्छ्रीकृष्णोऽपि
वेदशाखोक्तधर्मोऽतिक्रमं करोति लतास्थानीयानामुपनिषदामपि
निर्गुणचारा - तिक्रमं आलवालस्थानीयवर्णाश्रमधर्मातिक्रमं
च कृतवानित्यर्थः। एवं स्थल-जल-वन-भेदेन त्रिबिधापि लीला
रसजनिकाऽत्यलौकिका जातेति अविचार - क्रीडायां दृष्टान्तः
यथा द्विरद इति ॥ २५ ॥

एवं शशाङ्कांशुबिराजिता निशाः

स सत्यकामोऽनुरताबलागणः।

सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः

सर्वाः शरत्काव्यकथारसाश्रयाः ॥२६॥

एबमेकरात्रिकृतां लीलां एकरूपामतिदिशन्नुपसंहरति एब
मिति, यथा शरदृतुप्रथम-रात्र्यां लीला कृता तथा सर्वास्वपि
तथैवाऽनेन च प्रकारेणेत्याह एबममुना प्रकारेण शशाङ्कश्चन्द्र-
स्तस्यांशुभिर्बिराजिता उज्ज्वलिताः निशाः सर्वा एव सिषेवे। तासु
नैरन्तर्य्येणाक्रीडतिस्मेत्यर्थः। एकरात्रीकृता लीला संक्षेपतो
दर्शिता वर्णिता बह्वीषु रात्रिषु कृतां को वर्णयितुं शक्नोतीति-
भावः। पराशरेणाप्युक्तं "सोऽपि कैशोरकं वयो मानयन् मधु-
सूदनः"। "एवं स कृष्णो गोपीनां चक्रबालैरलंकृतः। शारदीषु स-
चद्रांशु निशाषु मुमुदे सुखीति" शशाङ्कस्य पूर्णत्बात् सर्वा एव
निशाः पूर्णाः, यद्यपि वृन्दाबने सर्वर्त्तूनां निबासस्तथापि तदधि-
करणे प्रदेशे सखण्डबत् शरत्काव्यकथारसाश्रयाः,शरदृतौ काव्येषु
याः कथास्तासु ये रसाः शृङ्गारादयस्तेषामाश्रतभूताः, यद्वा रसा-
श्रया सर्वा शरत्काव्यकथा सिषेवे। तदनुसारेण चिक्रीडे तासु
गीतगोबिन्दादिषु प्रसिद्धं एव। ननु निरपेक्षस्य किं रमणेन स्यात्।
चेत्तदा सर्वदा रात्रिषु रमणेनासामर्थ्यं विरक्तिश्च स्यादत आह-
सत्यकाम इति, यद्वा सत्यो बाध्यो कामो अभिलाषो यासां ताः
सत्यकामाः, यद्वा सत्ये श्रीकृष्णस्वरूपे कामो यासां ताः, श्री-
कृष्णस्वरूपस्य सत्यत्बात् तद्विषयस्य कामस्यापि सत्यत्वम्। साम-
रस्यात्ताभिः सह हि सत्यकामः। ननु कदाचित् पत्यादिपारब-
श्येन लीलायाः कादाचित्कत्वं स्यादत आह अनुरताबलागणः
पत्यादिप्रतिबन्धमबगणय्यानुरतो उचितोऽबलागणो यस्मिन्,
यद्वा नैरन्तर्य्येण बिलासाननुभबितुमनुरतोऽनुसृतोऽबलागणो
येन सः, अत एव तासां नित्यसम्बधः सूचितः। सत्यकामत्बात्।

तासु नित्यमेव रमणं न तु कादाचित्कं न हि काममन्तरेण रमणं
सम्भवतीति तदुक्तं "नाकामस्य क्रिया काचित्दृश्यतेऽत्रेह
क्वचित्। यद्यद् कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितमिति"। प्राकृ-
तन्यापि प्राणिनो यदा सकामत्वेन क्रिया निवृत्तिस्तदा परम-
शृङ्गारिणः किमुतेति तदुक्तं गीतगोबिन्दे "शृङ्गारः सखि मूर्ति-
मानिवे" ति। तासामपि कामस्य श्रीकृष्णस्वरूपप्राप्तिरेव फलं
न तु बिषयभोगः। तदुक्तं श्री मुखेनैव-"न मय्यावेशितधियां कामः
कामाय कल्पते। भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो वीजाय नेष्यते"
इति। ननु निरन्तररमणेन वैरस्यं स्यादित्यत आह आत्मन्यबरुद्ध-
सौरत इति सत्यकामत्बात्। ब्रजदेवीबिलासनिमग्नचित्तत्वाच्च।
आत्मनि स्वस्मिन्नेबावरुद्धसौरतं सुरतसम्बन्धी चरमधातुस्ख-
लनं येन स इति प्राकृतकामस्यायमेव स्वभावो यच्चरमधातु-
पातं कारयित्बा सुरतान्ते वैरस्यं कारयति। अप्राकृतकामस्तु
प्रतिक्षणं नवाऽनुरागं वर्द्धयन् धातुपातं स्तम्भयित्वोत्तरोत्तरां
रतिमेव जनयति। न तु सुरतान्तेऽन्यथा रसभङ्गप्रसङ्गात्,
यद्वा आत्मनि मनसि अवरुद्धं स्वीकृतं सौरतं सुरतोपयोगिक-
लाकौशलं येन, कलाकौशलादेव न धातुपात इति। यद्वा स्वप्र-
योजनमाह आत्मनि निमित्तो स्वसुखार्थं अवरुद्धं सौरतं सुरत-
मण्डनं येन सः। अत एव सत्ये कालत्रयाबाध्ये गोपीमण्डले
कामो अभिलाषो यस्येत्यर्थः। सत्यकामत्बादेवानुरता अनुगता
अधीन-प्राप्ता अबलागणाः पतिं सम्मानयन्तीति सः सत्यविषय-
त्वात् कामस्य सत्यत्बम्। प्राकृतकामस्य प्रवेशानर्हत्बात्। काम-
जयोक्तिस्तु वाचो युक्तिः यदि प्राकृतकामस्य प्रवेशो भवेत्तर्हि
तस्य जयः सम्भाव्येत न तु तदस्ति। यद्वा सत्यकामः श्रीकृष्ण
आत्मनि निमित्तो स्वसुखार्थं रसाश्रया काव्यकथा यदा सिषेवे
तदा शरदृतुरपि सर्वा निशा रममाणस्य मयावच्छिन्ना परि-

पूर्णचन्द्रांशुविराजिता सिषेब इति शरद्दतावभिसेवकत्वं लीलो-
पयोगित्वं प्रसिद्धमेवेति ॥ २६ ॥

राजोवाच—

संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च ।
अवतीर्णो हि भगवानंशेन जगदीश्वरः ॥२७॥
स कथं धर्मसेतूनां वक्ता कर्ताभिरक्षिता ।
प्रतीपमाचरद् ब्रह्मन् परदाराभिमर्शनम् ॥२८॥

एवं तावत् "उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गत"
इति श्री कृष्णप्रियाणामुत्कर्षकथनेन श्रीशुको राज्ञो मनसन्तो-
षं कृतबान् इदानीं रासलीलाश्रबणेन परमानन्दपूर्णोऽपि सभा-
यामुपविष्टानां बहु मुखानां कुतर्कनिष्ठानां ब्रजसुन्दरीबिलासश्रव-
णेन परमानं परस्परं नेत्रकूणनेन स्वमनसि श्रीकृष्णस्य जीव-
साम्यमाशंकमानानां मुखाप्रसक्त्या तदभिप्रायमालक्ष्य मुनीन्द्रं
प्रष्टुमशक्तानामिङ्गितज्ञो राजा स्वयमेव संशयमुत्पाद्याक्षिपति
संस्थापनायेति, धर्मस्य संस्थापनायेति, धर्मस्य संस्थापनाय
हैतुकै रुत्सादितस्यान्बयव्यतिरेकाभ्यां प्रामाण्यदर्शनेन विद्वांस-
योगिबचनै राचरणेन दृढीकरणं संस्थापनं तत् प्रयोजनम। इत-
रस्य दृष्टार्थवादिभिरतिवहिर्मुखैः कुतर्कनिष्ठैः प्रवर्तितस्याध-
र्मस्य प्रशमाय समूलनाशाय सबासनस्योन्मूलनायेत्यर्थः।
भगवान् प्रकटितषडैश्वर्य्योऽपि अंशेन बलदेवेन सह, यद्वा
अंशेन ज्ञानबलैश्बर्य्यादिना सहावतीर्णः यतो जगदीश्बरः जगतां
ब्रह्मादिस्थावरजङ्गमानां ईश्वरो नियन्ता, ये धर्ममर्य्यादामुल्लंघ-
यन्ति तेषां सर्वेषां दण्डकर्ता धर्मातिक्रमे जगधातो छेदा-
पत्तेः। इदं तु धर्मरक्षणं अधर्मनिरसनं च सामान्यतोऽन्याव-
तारकार्य्यं तदुक्तं गीतायां-"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानि र्भवति

भारत । अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्" इति । अब-
तारिण: श्री कृष्णस्य कार्य्यविशेषक: इति प्रश्न: कृष्णस्तु
भगवान् स्बयमित्युक्तत्बात्तथापि बिशेषनिर्द्धारणायाक्षेप: सामा-
न्यतो धर्मरक्षणादेरन्यावतारैरेब चरितार्थत्वात् । स्बयमेब कार्य्य-
बिशेषं निर्द्धारयति । श्रीकृष्णस्यावतारिणो धर्म विशेषं रक्षणं
प्रवर्त्तनं च अधर्म-विशेषनिरसनं च प्रयोजनं द्वयमित्यर्थ: । धर्मो
मद्भक्तिकृत् प्रोक्त" इति श्रीमुखेनोक्तस्य धर्मस्य संस्थापनाय इत-
रस्य भक्त्युपयोगशून्यस्य प्रशमाय अभक्तेषु संचारणाय भक्ति-
बिरुद्धधर्मस्य हेयत्वेन श्रूयमाणत्बात् अत्रोक्तं च । "स्बर्गापवर्ग-
नरकेष्बपि तुल्यार्थदर्शिन:" इति । यद्वा भगबान् सर्वशक्तिवि-
शिष्टोऽत्र गोकुलेऽबतीर्ण: अंशेनाऽन्यत्र जगतां ब्रह्माण्डानां
नियन्ता प्रभुरित्यर्थ: । ये अतिबहिर्मुखा: श्रीकृष्णे जीवसाम्यं
पश्यन्ति तान् श्रावयित्बानुबदति राजा रासक्रीड़ाश्रवणनि-
र्वृत्तोपि संशयरहितोऽपि तान् कुतर्कनिष्ठान् कर्तुं भगवत्यधर्म-
मारोप्य मुनीद्रमुखात् श्रीकृष्णस्यैश्वर्य्यं स्थापयितुं इदमनुपृच्छ-
तीति तात्पर्यार्थ: । स एब धर्म - संस्थापनद्वाराऽधर्मनिरसन-
द्वारा जगत्पालक: ॥ २७ ॥

धर्म सेतुनां धर्मा एव सेतवो जगद्रक्षणसमर्था मर्यादास्तासां
वक्ता उपदेष्टा न केबलं वक्तैव अपि तु कर्ता तदुक्तं गीतायाम्-
"उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहमिति" पाषण्डिनां
कुयुक्तिखण्डनेन बलाद् धर्म सेतू विदारणकर्तॄणां बधेन चाभि-
तो रक्षिता । एवं बहुधा धर्मस्य रक्षक: प्रातिकूल्यं नास्ति । तथापि
को गृहीप्यदृषभस्य हि तत् प्रमाणमिति दृष्टान्तेन तादृशाचर-
णेन लोकस्यानिष्टं भवेदेवेति प्रतीपमित्युक्तम् । किं तदत्यपे-
क्षायामाह परदाराभिमर्शनमिति । यत् महासाहसमित्यर्थ: ।
धर्मस्य वक्तृत्वं समक्षं दृष्टम् "भर्तु: शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो

ह्यमाययेति"- उक्त्बा पतिशुश्रूषणं कथयित्बा रमणं साधितम् ।
अतो वक्तृत्बकर्तृत्वयोर्बिसंम्बादो जात: । बक्तव्यविस्मृति -
पूर्वरमणस्याभितो रक्षणं जातमिति । प्रतीपं कथमाचरत् ।
अभिप्रायाज्ञानात् पृच्छते न तु तत्र किंचित् प्रतिकूलमस्तीति ।
विरुद्धधर्मादिकरणत्वादीश्वरस्येति । तद्यथा धर्माधर्मयोरीश्वरे
स्थितिश्रबणात् एवं कथनमन्यदेबाचरणमन्यदेवेति ईश्बरे न
किमपि विरुद्धमिति । तथापि लोकसंग्रहपरस्येश्बरस्य सम्बेदना-
चरणानान्यथात्वेन पृच्छाम इति भाब: ॥ २८ ॥

आप्तकामो यदुपति: कृतवान् वै जुगुप्सितम् ।

किमभिप्राय एतं न: संशयं छिन्धि सुव्रत ॥२९॥

नन्बाप्तकाम एबायं किं न भवेत् , जुगुप्सिते प्रवृत्तिदर्शना-
दिति चन्न कामप्राप्तौ सत्यां निन्दते प्रवृतिं दृष्ट्वा कोऽपि नोपा-
लभेत् । ननु तदस्ति आप्तकाम इति, रमापतित्वात् सर्वसिद्धि-
प्रदत्वाच्च । यदुपतिरिति परमधर्मशीलयदुवंशजत्बात् । सद्वंश-
जातानां धर्मोपदेशेन पालकश्च किमभिप्रायो यस्य स: केनाभि-
प्रायेण जुगुप्सितं निन्दितं वै निश्चयेन कृतबान् । परस्परविरु-
द्धार्थत्वात् । आप्तकामत्वनिन्दितकर्तृत्वयो: सामानाधिकरण्यं
न सम्भवति । नन्बीश्बरस्य बिरुद्धधर्माधिकरणत्बात् न किंचि-
दसमंजसमिति चेत् तथापि प्रयोजनं वक्तव्यम् नैतल्लोकहितं
पूर्णत्वेन प्रयोजनाभावात् इति सन्दिहान् सर्वान् संगृह्य प्रार्थ-
यते । नोऽस्माकं सर्वेषां एतत् एतस्मिन्नर्थे संशयं छिन्धि । हे
सुव्रत शोभनसङ्कल्पो यस्य श्रीकृष्णस्य लीलामन्तरेण नान्यत्क-
थनीयमिति । यदीदमयुक्तं स्यात्तदा त्वया श्रद्धापूर्वमुक्तं न
भवेत् । किं च यदि वायमधर्म: स्यात् तदा तव कथने रुचिर्न
स्यादिति । लोकस्य कंचिद्भङ्गमेब प्रतीयतेऽतोऽभिप्रायो बक्तव्य: ।

वास्तवोऽर्थस्तु गोपीनां सङ्कल्प्या आप्ता लब्धाः कामा येन सः यदुपतिरिति तदुक्तं पाद्मे "एते हि यादवाः नित्यं मद्गुणा एव भामिनि । सर्वदा मत् प्रियाः देवि मत्तुल्यगुणशालिनः" इति द्वारकालीलायाः नित्यत्वं कथितम । "मथुरा भगवान् यत्र नित्यं सन्निहितो हरिरिति" मथुरालीलायाश्च नित्यत्वं सूचितम इति तत्रापि स्वकीयसापेक्षत्वं सूचितम् । प्रायः किं जुगुप्सितं अपि तु न यतः अभि भयरहितं यथा भवति तथा कृतवान् । अतो मम संशयो नास्ति हेतुवादिनां केषांचिदुपरोधेन पृच्छते । संशयं सन्देहं छिन्धीति ॥ २९ ॥

श्री शुक उवाच—

धर्म व्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम् ।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा ॥३०॥

एवं तावत्सामान्यतोऽन्यावतारविरुद्धं कथं कृतवान् इति यदाक्षिप्तं तत् प्रौढवादेन श्रीशुकः परिहरति धर्मव्यतिक्रमेति, हेतुवादिनाभिप्रायमालक्ष्य यदाक्षिप्तं तदङ्गीकृत्य सानुप्सये इव तदुत्तरयति । ईश्वराणां देहादिपारतन्त्र्यरहितानामप्यन्येषां धर्मव्यतिक्रमो मर्य्यादोलङ्घनं दृष्टम् । यथा ब्रह्मणा दुहितर्य्य-भिलाषः कृतः, सोमेन बृहस्पतिपत्नीस्वीकार इति अन्येषामपि ईश्वरतुल्यानां ज्ञानभक्तिवलेन मर्य्यादामतिक्रम्य वर्ततामपि बर्तमानधर्मोल्लङ्घनं दृष्टसाहसमबिद्यमानकरणे निर्भयत्वं च दृष्टं सहसाऽबिचारेण क्रियमाणत्बात् । नन्वेवं चेत प्रत्यवायफलं कस्य न भवेत् इत्यत आह तेजीयसां अति तेजस्विनां न दोषाय अधर्मजननद्वारा नरकपाताय न भवेत् । कर्म-दोषदहनसमर्थानां हेतुरपि दोषजनको न भवतीत्यत्र दृष्टान्तमाह सर्वभुजो वह्नेर्यथा दोषो न भवति, तर्हि सर्वान् दहन् सर्वं भक्षयन् वन्हिस्तद्दोषभाग्न भवति ॥ ३० ॥

नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः ।
विनश्यत्याचरन् मौढ्याद्यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम् ॥३१॥

नन्वग्निदृष्टान्तेन दोषाभावस्तर्हि लोकस्य कथं श्रेयोऽत्रार्थः । तदुक्तं "यद्वृत्तमनुतिष्ठन्वै लोकक्षेमाय कल्पते" इति चेत्तत्राह नैतदिति । एतद्धर्ममतिक्रमरूपसाहसं न सम्यक् आचरेत् सम्यक्-अतीव निषेधानादरेणेति । तत्र मनसापि न किमुत वाचा कर्मणा अपीति निश्चयेन स्वयमनीश्वरदेहादिपरतन्त्रः मौढ्यात् ईश्वरसा-दृश्यभ्रान्त्या ईश्वरबत्सामर्थ्याभावात् ईश्वरे सामर्थ्यज्ञानात् आचरन् बिशेषेण मूलतो नश्यति । यथा रुद्रव्यतिरिक्तोऽब्धिजं बिषं कालकूटाख्यं अदन् सद्य एव म्रीयेत् रुद्रस्तु अदन्नपि न नश्यति प्रत्युतं लोकोपकारकतया शोभत एव ॥ ३१ ॥

ईश्वराणां बचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित् ।
तेषां यत् स्ववचो युक्तं बुद्धिमांस्तत्समाचरेत् ॥३२॥

एवं तादृशसामर्थ्याभावे आचरन्तो मूढा ज्ञेया इति । अत एब जातु कदाचित्कौतुकेनापि ईश्वरकृतं नाचरत् । नन्वेकमेव कर्म कथमशुभजनकं कथं बा शुभजनकं तत्राह अधिकारिभेदेषु भेदादेब सर्वं घटत इति । रुद्रोऽब्धिजबिषमिति यथा काल-कूटभक्षणेन लोकोपकारोऽपि जात इत्याह । ननु कथं सदाचारस्य प्रामाण्यमिति चेत्तत्राह ईश्वराणामिति, ईश्वराणां भक्तिज्ञानल-ब्धसामर्थ्यानां तदुक्तं गीतायां "इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम सा-धर्म्यमागताः । सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च" तादृ-शानां लब्धभगबत्प्रसादानां तेषामाज्ञारूपं च एब सत्य आचरन्ति तु क्वचिदेब बचनांशादि चेद्भवति तदा सत्यमेब तथेश्वरे धर्माधर्मज्ञानाज्ञानैश्वर्य्यानैश्वर्य्यवैराग्यावैराग्यादयो धर्मा दृश्यन्ते । तथेश्वरधर्मबिशिष्टानामन्योन्यमपीष्टानिष्टहेतवो

न भवन्त्याशयेनोक्तम्। आचरितं किंचिदेव सत्यमिति तैरुक्त-माचरेत्। तेषां स्वछन्दाचरितं नाचरेत्। ते ह्यन्यथा वदन्ति। अन्यार्थबचनमन्याधिकारिषु न सत्यमिति बिचार्य्य बुद्धि-मान् तत् स्वाधिकारार्हं समाचरेत् अन्यथाऽनिष्टहेतुरेब भवे-दित्यर्थः ॥३२॥

कुशलाचरितेनैषामिह स्वार्थो न विद्यते ।
विपर्ययेण वानर्थो निरहंकारिणां प्रभो ॥३३॥

ननु यथान्यस्मै ते कथयन्ति तथा स्वयमपि किमिति नाचरन्तीति चेत्त्राह कुशलेति, एषामीश्वराणां कुशलाचरिते इह लोके कश्चन स्वार्थो न बिद्यते स्वत एवानन्दपूर्णत्वात् विपर्य्येणाकुशलाचरितेनानर्थोऽपि न विद्यते यतो निरहङ्कारिणां साहङ्कारस्येदं बिधिनिषेधिबोधकवेदनियम्यत्वं नान्यस्येतिभावः। यथा बिहितकर्मणो इष्टाभावस्तथा निषिद्धकर्मणाऽनिष्टाभाव इति। कुशलाकुशलयोः कर्तृत्वाभिमानशून्यानां कर्मभिर्लेपो न शङ्कनीय इति भावः। हे प्रभो स्वमर्नसि वोद्धुं समर्थेति! यद्वा श्रीकृष्णस्य सर्वयोगबिलक्षणज्ञापनार्थं सम्बोधनं हे प्रभो इति ॥३३॥

किमुताखिलसत्त्वानां तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसाम् ।
ईशितुश्चेशितव्यानां कुशलाकुशलान्वयः ॥३४॥

ननु यदि ज्ञानसहकृतेनाहङ्काराभावमात्रेण निष्ठाभाव-स्तदा ऐश्वर्य्यसहकृतेनाहङ्काराभावेन लीलास्वभावस्य कलितलोक-हितार्थायावतीर्णस्य केयमनर्थशङ्कापीति कैमुत्यन्यायेनाऽह किमु-तेति, अखिलसत्वानां कीटानां तर्य्यङ्मर्त्यादिवौकसां तामस-राजससात्विकानां ईशितव्यानां नियम्यानां तत्तादधिकाराधि-कृतानां ईश्वराज्ञयाऽन्यनियामकत्वमुक्तं पार्षदानां कुशलाकुश-

लान्वयो नेति। तथा चोक्तं अकुशलान्वयोऽपि अजामिल-प्रसङ्गे पार्षदैरेब निर्णयकृतः। परमेश्वरस्यान्यनियम्यत्वा-भावात्। कुशलाकुशलान्वयः पुण्यपापसम्बन्धः किमुतेति न शङ्कनीय इत्यर्थः ॥३४॥

यत्पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ता
योगप्रभावविधुताखिलकर्म बन्धाः।
स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमाना-
स्तस्येच्छयात्तवपुषः कुत एव बन्धः ॥३५॥

इदमेबार्थं कैमुत्यबिबरणेन स्फुटयति यस्य पादपङ्कजयोः परागस्तस्य निषेवः निशब्देन व्यवधानेनोपासनमुक्तं तेन तृप्ता-स्तदित्र हेयबुद्धयः, सेबा भजनं भक्तिरिति पर्य्यायः। श्रव-णकीर्त्तनान्युत्तमनिष्ठा भक्ता इति यावत् भक्तिसुखनिर्भरतया तद्विश्वासेन च स्वैरं चरन्ति बिधिनिषेधानादरेण स्वेच्छयैव कर्माणि कुर्वन्ति न तु भक्तिविरुद्धानि यथा नारदादय इति तदुक्तं पाद्मे "न कर्म बन्धनं जन्म वैष्णबानां च बिद्यते"। एकादशेऽपि तदुक्तं "देबर्षि-भूताप्तनृणां पितृणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्। सर्बात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तमिति" अत एब न नह्यमानाः स्वेच्छाकृतैः कर्मभिरवध्यमानाः कस्याप्यऽनियम्याः सन्तश्चरन्ति। कीदृशाः योगो भक्तियोगस्तत् प्रभावेनासाधारणशक्तिवैभवेन बिधुतः बिशेषेण रूबासनो धुतः छिन्नः अखिलानां कूटबीजप्रार-ब्धानां कोटिमत्रैव। "स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्य-भावस्य हरिः परेशः। विकर्म यच्चोत्पतितं कथंचिद्धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः" इति। अथवा मुनयोऽपि सनकादयः स्वैरं स्वेच्छया चरन्ति अपि नार्थस्तु गौणी क्रियते। कीदृशाः

प्रभावेन विधुतो विनष्टः
योगोऽष्टाङ्गः ज्ञानयोगो वा तस्य
अखिलकर्मबन्धो येषां ते । तदुक्तं "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि
भस्मसात्कुरुतेऽर्जुनेति"! तस्येति अन्यत्रातीवस्वातन्त्र्येण वर्त-
मानस्य इच्छयाऽन्या नियम्यत्वेन, यद्वा भक्तानामिच्छया
आत्तानि वपूंषि मत्स्यादिरूपाणि येन तदुक्तं "यद्-
यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहा-
येति" । मत्स्यादीनामवताराणां तादृशेनैश्वर्य्यपुरस्कृतं चेत्
स्वातन्त्र्यं तर्हि निरङ्कुशमहिम्नः परमावधिभूतस्यावतारिणः
श्रीकृष्णस्योच्चावचैः कर्मभिः कुतो बन्धः । परमकैमुत्योक्तिः पाम-
राणां संशयदूरीकरणार्थमेवशब्दः । यत्पादपङ्कजेति समान्यतो
भक्तानां कर्म-बन्धनाभावश्चेत्तर्हि श्रीकृष्णजीवातुभूतानां तत्
प्रियाणां कथं सङ्केति भावः । ३५॥

गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम् ।

योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक् ॥३६॥

पूर्वं गोपीनां परदारत्वमङ्गीकृत्य यत्पादपङ्कजेनेत्याक्षेपः
परिहारः कृत, इदानीं परो नाम न कश्चित् येन गोपीषु पर-
दारत्वं भवतीति सभायामुपविष्टानां केषांचिद्बहिर्मुखानां मुखा-
प्रसर्ती दृष्ट्वा तस्यान्तर्यामितिया स्त्री-पुं-साधारणजीवानां
मुख्यपतित्वं प्रकटयन् उपाधिधर्मासंस्पर्शित्वेन महद् ऐश्वर्य्यमाह
गोपीन तत्पतीनां चांतश्चरति गोपीनां हृदि सदा स्वरूपेण
प्रकाशते तत्पतीनां सर्वेषां देहिनां च शक्त्यान्तश्चरति । एव-
कारस्तु नित्यानुवादे । तदुक्तं श्रीमुखेन "साधवो हृदयं मह्यं
साधूनां हृदयं त्वहमि"ति । अत्र स्वरूपोक्तिरन्यत्र धर्मेणेति ।
अत एवाध्यक्षः बुद्ध्यादिसाक्षी, अनेन परमात्मत्वमुक्तम् ।
नन्वेवं बुद्ध्यादिसाक्षीत्वं चेत्तर्हि निराकारत्वेन प्रतीतिः नेत्याह
क्रीडनेन निमित्तेन रासादिक्रीडार्थमेव देहभाक् । क्रीडा तु

प्रियवर्गसापेक्षा क्रियेति । यथान्तर्यामितया सर्वदा हि सम्ब-
न्धेऽपि सर्वकर्मप्रवर्त्तनेऽपि तत् तद्गुणादोषैर्निर्लेपत्वं तथा
सच्चिदानन्दविग्रहस्योच्चावचैः कर्मभिर्निलेपत्वमितिभावः । यद्वा
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः प्रतीक्षः क्रीडने लीलया नटवन्मानुषं
देहं भजते । ननु परमात्मा चेत् तर्हि जुगुप्सितायाः सैरिन्ध्याः
कथं सङ्गतस्तत्र समाधास्यति । "मुकुन्दस्पर्शनात्सद्यो बभूव
प्रमदोत्तमेति" । श्रीविग्रहस्य बहिरन्तश्चैकरूपत्वं न लौकिकत्वं
चोक्तम् । न ह्येतादृशसामर्थ्यमन्यस्य भवितुमर्हतीति ।
सैरन्ध्रीस्पर्शेऽपि निर्लेपत्वमिति । यत् न चैतासां सैरिन्ध्रसादृ-
श्यमूह्यम "नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः स्वर्योषितां
नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः । रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीत-
कण्ठ-लब्धाशिषां य उदगाद् व्रजवल्लवीनामिति" । अन्यथो-
द्भवेनासां चरणरजः प्रार्थना नोपपत्तेः तस्माद्गोपीनां परदा-
रत्वं न स्यात् चान्यदेहिसादृश्येन श्रीकृष्णस्योपपतित्वम् । सर्वं
देहिनां सर्वकर्मप्रकर्त्तृकत्वेन सर्वकर्मफलभोक्तृत्वेन च मुख्य-
पतित्वं सर्वशास्त्रसमन्वयस्य पर्य्यवसानात् शास्त्रफलं प्रयोक्त-
रीति न्यायस्य सत्वान्न किंचिदसमञ्जसमिति ॥३६॥

अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः ।

भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत् ॥३७

नन्वाप्तकामस्य क्रीडाऽपि कुतः प्रयोजनाभावात् न ही प्रयो-
जनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि नाम प्रवर्त्तत इति चेत्तत्राह अनु-
ग्रहायेति, भक्तानामनुग्रहार्थमेव नराकारदेहमाश्रितः । तदुक्तं
दशमस्कन्धोपक्रमे "दशमे दशमं लक्ष्यमाश्रिताश्रयविग्रहमिति" ।
तदुक्तमुपनिषदि – भोगार्थं सृष्टिमित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे ।
देवस्यैव स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहेति" भक्तानुग्रहार्थमेव
तादृशीः मानुषानुकरणीः सर्वचित्तानुकरणीः क्रीडाः, यद्वा

क्रीडा भजते करोति । क्रीडा
तादृशी रासक्रीड़ासदृशीरन्या: क्रीडा भजते करोति । क्रीडा
तादृशी रासक्रीड़ासदृशीरन्याः क्रीडा भजते करोति । ब्रजजनानां सर्वे-
तु स्वकीय - प्रियवर्गसापेक्षा । यद्वा भक्तानां गोपीनामनुग्रहाय तादृशीः क्रीडा
षामनुग्रहाय, यद्वा भक्तानां योऽनुग्रहः स्वमिन्
वाचामगोचरा भजते, यद्वा भक्तानां
कटाक्षपातालिङ्गनादिस्तदर्थं प्राप्नयेत्यर्थः । तादृशीः पूर्वोक्ता
बाहुप्रसारेत्याद्याः क्रीडा भजते । याः श्रुत्वा सर्वोऽपि जन-
स्तत्परो भवेत् । क्रीडाश्रयैकनिष्ठो भवेत् । यद्वा भक्तानां
गोपीप्रभृतीनामनुग्रहाय तत्समानजातीयं मानुषं मनुष्याकारं
देहमाश्रितोऽभूदिति । न हि विजातीयेन देहेन तास्वानन्दं
संचारयितुं शक्यत इति । ईदृगेव निरोधात्मिका लीला यदै-
श्वर्य्यमुपेक्ष्य गोपीस्वानन्दं संचारितवानिति भूतानामितिपाठे
मुक्त - मुमुक्षु - विषयिणामनुग्रहाय तानपि स्वपरान् कर्त्तु
राससदृशीरन्याः क्रीड़ा भजते । याः श्रुत्वा तत्परो भक्तो
भवेत् । यद्वा याः श्रुत्वा तत्परो गोपीसेवनपरो भवेत् ।
गोपीप्रसादमन्तरेण रहस्यलीलाश्रवणमपि दुर्ल्लभमित्यर्थः । तदु-
क्तमुद्धवेन "आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यामिति" । यद्वा
याः श्रुत्वाऽन्योऽपि मानुषदेहमाश्रितः जीवस्तत्परो भवेदिति
॥ ३७ ॥

नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्यमायया ।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः
॥३८॥

पूर्वं राज्ञा पृष्टं परदाराभिमर्शनं धर्म - विरुद्धं कथं
तत्र प्रौढवादेन गोपीनां परदारत्वमङ्गीकृत्य "धर्मव्यतिक्रमो
दृष्ट" इत्युत्तरं दत्तम् । आप्तकामो यदुपतिरिति । यत् पृष्टं
तत्र अनुग्रहाय भक्तानामित्युत्तरितम् । यद्यपि राज्ञः समाधानं जातं

तथाप्यन्येषां सभासदां संशयो जातः । तथा हि यदा श्रीकृष्णेन
वेणुनादद्वारा आकृष्टास्तदाऽसूयाविष्टैस्तासां पत्यादिभिरव -
रुद्धास्तदा गुणमयं देहं जहुरिति उक्तम् । अन्येषामपि व्रजवा-
सिनां तत्तुल्यत्वात् तासु सर्वासु गतासु गृहाणां शून्यत्वे जाते
अन्वेष्टुं कथं ते न गतास्तत्र समाधत्ते नासूयन् इति व्रजौ-
कसस्तासां पत्यादयस्तासु गतासु कृष्णाय नासूयन् कृष्णे
दोषदृष्टिं न चक्रुरिति । तस्य हेतुः तस्य मायया योगमा-
यया मोहिताः "स्यात् कृपादम्भयो मयीति" विश्वः । ते
यद्यपि जानन्ति तथापि तस्य मायया कृपया स्नेहविशेषेण
मोहिताः दोषदृष्टिं न चक्रुः । यद्वा अभिज्ञानां मते माया
'अघटितघटनाचातुरीविशेषस्तेन मोहितास्तदाह यास्तु पूर्वं गृह-
मध्ये रुद्धास्तत्सदृशं देहं छायामयं तेभ्यो दत्वा तास्तेनैव
देहेन श्रीकृष्णान्तिकं गतास्ताः रमयामास । तथात्रापि तासां
छायामयदेहस्य पत्यादिसमीपे स्थापितत्वात्, अत एवासूयां
न चक्रुरिति । यतः स्वान् स्वान् दारान् पार्श्वस्थान् स्व-
समीपस्थान् मन्यमाना व्रजौकस इत्यनेन व्रज एव स्थिताः
तन्निकटेऽन्वेष्टुं न गता इति भावः । अनुग्रहाय भक्ताना-
मित्यनेनोक्तमनुग्रहं स्फुटयन् तेष्वसूयां नोत्पादितवानिति अन्य-
थाऽनुग्रहासम्भवेऽसूयाविष्टा भवेयुरितिभावः ॥ ३८ ॥

ब्रह्मरात्र उपावृत्ते वासुदेवानुमोदिताः ।
अनिच्छन्त्यो ययुर्गोप्यः स्वगृहान् भगवत्प्रियाः ॥३९॥

एवं श्रीकृष्णस्य रसैश्वर्य्यं सपरिकरं निरूप्य तास्वपि
निरकुंशमैश्वर्य्यं जनेषु प्रख्याप्य रससिन्धोः प्रस्तुतमगाधत्व-
मुपसंहरन् तासां श्रीकृष्णे धर्मधूर्य्ये तृप्त्याभावं व्यंजितम् ।
नवानुरागसद्भावेऽपि पुनरपि दिवसान्तरे तमेव रासविलासं

प्रकटयितुं बलादिव कृष्णप्रेरितानां गमनमाह । ब्रह्मरात्रेति- ब्राह्मे मुहूर्ते, यद्वा ब्रह्मरात्रे ब्रह्मणो रात्रितुल्ये काले उप समीपं उपावृत्ते जाते सति । पूर्वमाचार्य्यैरेव व्याख्यातं- शशाङ्कश्च स-गणो विस्मितोऽभवदिति । ततश्चातिदीर्घासु ब्रह्मनिशासदृशीषु रेमे इत्युक्तम्, यद्वा ब्रह्मणः स्वानन्दपूर्ण- स्यापि तुल्यकाले उप समीपे आवृत्ते आ समन्तात् वृत्ते जाते पूर्णे सतीत्यर्थः, ब्रह्मत्वाननुसन्धानेन पूर्णरमणे जाते सति आत्मारामोऽप्यरीरमदित्याद्युक्तेः । पुनरपि करिष्यमाणरम- णाभिसन्धिना नवानुरागवृद्धये, तदा बासुदेबानुमोदिताः बसुषु दीव्यतीति बसुदेबो नन्दस्तत् पुत्रेणेत्यर्थः । "द्रोणो बसूनां प्रबर" इत्युक्तेः । यद्वा वसुभिर्गोमहिष्यादिधनैर्दीव्यति प्रकाशते वसुदेबो नन्दस्तत् पुत्रेणेति । अयमभिप्रायः गोम- हिष्यादि-दोहनादिसमये नन्दं स्मारिष्यतीति । तदनुसन्धानं नन्दस्यापि आनन्दबितरणप्रीतेन तेनानुमोदिताः । इदानीं दधि-निर्मथनसमयो जातो गोदोहनादिसमयो जातः । पुन- रप्येवं रजनीमुखे वेणुना आकारणीया इत्याश्वस्ताः, यद्वा बासुदेवेन चित्ताधिष्ठात्रानुमोदिताः प्रेरिताः पूर्वमागमनसमये प्रतियातेति बाह्यवृत्त्या प्रेरिता अपि न ययुः, यद्वा तच्चि- त्तस्याकृष्टत्वाद्गमनासम्भवः ताभिरप्युक्तं "चित्तं सुखेन भव- तापहृतं गृहेषु" इत्यादिना । इदानीं चित्तस्य प्रेरितत्वात् स्वतो गमनमजातमिति भावः । यद्वा वसुदेवशब्दितं शुद्ध- मन्तकरणं तस्मिंस्तदधिष्ठातृत्वेन तिष्ठतीति वासुदेवस्तेनानु- मोदिताः सदा तस्य चित्तेषु पूर्णत्वात् । तच्चित्तानुवृत्त्या तदाज्ञाभङ्गं कर्तुमपारयन्त्यः बाह्यवृत्त्या तदाज्ञां शिरसि धार- यन्त्यस्तत्सङ्गमपि त्यक्तुमनिच्छन्त्यः, यद्वा गृहेषु परमदुःखा- नुसन्धानेन वाताशनबत् पतिपुत्रादिशुश्रूषणं तैः सह सम्भा-

षणमपि कर्तुमनिच्छन्त्योपि प्रियप्रस्थापिताः स्वगृहान् ययुः । नन्वयुक्तस्वीकारत्वेन कथमनुमोदनं कृतं कथं च ताभिः स्वीकृतं इति चेत्त्राह भगवत्प्रिया भगवानेव प्रियो यासां ताः प्रियस्याज्ञा करणीयेति, आज्ञाभङ्गे को वेद किं स्यात् । दास्यस्यापि स्वीकृतत्वात् । लाघवशक्त्यान्यत्सर्वं कृतत्वात् चेत्यऽनुसन्धानेन सुदुःखमपि सहमाना ययुरिति । भगवत् प्रिया इति वा तद्वशवर्त्तित्वेनापि ता इति भावः ॥३९॥

बिक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः

श्रद्धान्वितोऽनुश्रृणुयादथ वर्णयेद्यः ।

भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं

हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दश- मस्कन्धे पूर्वार्द्धे 'रासक्रीडाबर्णनं नाम त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः।

ननु रासबिलासश्रवणेन पामराणां कामोद्रेक एव भविष्यति किमेतच्छ्रवणेनेति चेत् समाधानं कुर्वन् प्राकृतकामजयद्वारा श्रीव्रजेन्द्रनन्दने परमं प्रेमभक्तिरूपफलं श्रोतृवक्तृजनानां प्रशं- सन् । अप्राकृतकामतत्ताल्लीलादर्शनाद्यकारित्वं सम्भावयन्नाह पंच बिधा गोप्यः रेमिरे, बिक्रीडितं व्रजबधूभिः सह । विविधं क्रीडितम् । उक्ति-प्रत्युक्ति-रूपं तत्रादूभवे कदाचिन्नदीपुलिने कदाचिद्यमुनायां सर्वत्र वृन्दावनप्रदेशेषु व्रजदेवीभिः सहा- बिर्भावितं बिलासं, उपवनं उदाहरणमेतत् अन्यत्र सखीभिः सह कृत्यं नृत्यगानादिकं व्रजेश्वरीपरोक्षकृतं भाण्डभंगादिकं नवनीतचौर्य्यादिकं च एतत्सर्वमन्यदपि गोवर्द्धनोद्धरणादिच- रितं श्रद्धान्बितो आस्तिक्यबुद्धिमान् अनु बारं बारं श्रृणु- यात् श्रवणानन्तरं यः स्व यूथेषु बर्णयेत् कीर्तयेत् स भग-

प्रेमलक्षणां प्रतिलभ्य वति रसैश्वर्य्यपूर्णे नन्दपुत्रे परां भक्तिं अपहिनोति दूरी- आशु शीघ्रं हृद्रोगरूपं कामं प्राकृतबिषयं भक्तिप्रतिव- करोति । श्रीकृष्णेऽलौकिककामस्य विधेयत्वात् यथेच्छं न्यकस्य कामस्य सद्भावे तदनुपपत्तेः, यद्वा कामं हृद्रोगं मत्सरमपहिनोति भक्तौ निर्मत्सराणामधिकारश्रवणात्त- दुक्तं "धर्मः प्रोज्झित - कैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतामिति" यद्वा कृष्णे भक्तिं प्रतिलभ्य श्रीकृष्णप्राप्तिजनितं हृद्रोगं हृत्ता- पमाशु अपहिनोति । पुनश्च प्राप्तेऽपि हृद्रोगे भक्तिवासनया धीरो भवति ॥ ४० ॥

इति श्रीमन्नारदावतार - श्रीव्रजाचार्य - श्रीनारायणभट्ट- गोस्वामिबिरचितायां रसिकाह्लादिनीटीकायां दशमस्कन्धे रास- बिलासनिमगनं नाम त्रयत्रिंशोऽध्यायः ॥३३॥ इति समाप्ता । उच्चग्रामे श्रीमद्रेबतीरमणमन्दिरे भाद्रमासे तृतीयायां लिखितम् ।

❀ समाप्तं जातम् ❀

यह लिखा है श्री श्री १०८ श्रीमहाराज ने नीचे और पढ़ो -

हस्ताक्षर श्रीभट्टगोस्वामी श्रीमन्नारायणभट्टकुलो - द्भूत "धवलेश्वर शर्मा" ।

:-❋-: इस "रास पंचाध्यायी" को नकल कीनी :-❋-:

भज-निताई गौर राधेश्याम ।

जप-हरे कृष्ण हरे राम ॥

परमाराध्य, संकीर्त्तन प्रचारक. प्रेममयविग्रह, श्रीराधा- रमणचरणदासदेव (बड़े बाबाजी) के अनुगत, नित्यधामगत, श्रीगुरुदेव बाबाजिमहाराज १०८ श्री बाबा (रामदासजी) के पुनीत स्मरण में यह ग्रन्थ समर्पित है ।